भारतीय संस्कृति पश्चिमी सभ्यता और विज्ञान

स्वामी संवित् सुबोधगिरि

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र

खण्ड 1 : राष्ट्रीय समस्याएं और इतिहास

खण्ड 2 : महापुरुष : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

खण्ड 3 : धर्म-दर्शन-संस्कृति-उत्सव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान

खण्ड 4 : वेदान्त दर्शन की वैज्ञानिकता

खण्ड 5 : गीता दर्शन की सार्वभौमिकता

प्रकाशक एवं वितरक :
स्वामी संवित् सुबोधगिरि
श्री नृसिंह भवन
संन्यास आश्रम, शिव मन्दिर
भीनासर 334403
बीकानेर (राजस्थान)
मो. : 09413769139

अन्य पुस्तक प्राप्ति स्थान :

- श्री सुशील कुमार ताम्बी
  प्रज्ञा साधना आध्यात्मिक पुस्तक केन्द्र
  A/3 आर्य नगर
  एन.के. पब्लिक स्कूल के पास
  मुरलीपुरा, जयपुर 302039
  फोन : 0141-2233765
  मो. : 09829547773

- **ज्ञान गंगा प्रकाशन**
  पाथेय भवन,
  बी-19, न्यू कॉलोनी, जयपुर
  दूरभाष : 0141-2371563

- **अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना**
  आप्टे भवन, केशव कुंज, झण्डेवाला
  नई दिल्ली 110055
  फोन : 011-23675667

- **जागृति प्रकाशन**
  श्री कृष्णानन्द सागर
  एफ-109, सेक्टर-27, नोएडा 201301
  दूरभाष : 0120-2538101
  मो. : 09871143768

प्रथम संस्करण : 2013 ई.

प्रतियां : 500

मूल्य : अस्सी रुपये मात्र

आवरण : गौरी शंकर आचार्य

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स, विनायक शिखर
शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

BHARTIY SAMSKRATI PASHCHIMI SABHYATA AUR VIGAN (Hindi)
Edited by Swami Samvit Subodhgiri ₹ 80

प्रकाशकीय

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र (पांच खण्डों में) में मैं अपने चार लेख यथा—भारतीय संस्कृति, पश्चिमी सभ्यता का बुरा हश्र क्यों? पाश्चात्य विज्ञान तीन कारणों से भारतीय दर्शन की ओर झुक रहा है और आधुनिक समय में उपनिषदों का प्रसार यूरोप में—विषय की स्पष्टता के लिए उसमें शामिल किया था। वे चारों लेख इसमें संकलित है। इसके अलावा मेरा एक नया लेख 'मानव जीवन की सार्थकता' इसमें शामिल है। परम पूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज के आशीर्वाद से प्रकाशित हो रहा है।

हमेशा की तरह सांखला प्रिंटर्स ने पूर्ण सहयोग करते हुए, श्रेष्ठ सुझाव देते हुए, तत्परता से मुद्रण कार्य को सुन्दरता से सम्पन्न किया। उनके प्रति विशेष आभार है।

शिवाकांक्षी

—स्वामी संवित् सुबोधगिरि
सम्पादक व संकलनकर्ता
मो. 09413769139

अनुक्रम

भारतीय संस्कृति

संस्कृति राष्ट्र की आत्मा है, भूखण्ड राष्ट्र का देह है, साहित्य उसकी दृष्टि है, भाषा उसकी वाणी है, सभ्यता उसका श्रृंगार है, कलाएं उसका सौन्दर्य है, विज्ञान उसका वैश्विक शोध है, अर्थ उसका भण्डार है, संस्कृति उसकी प्राण है। संस्कृति के बिना सब निष्प्राण हो जाएगा।

इकबाल का कथन है—

रोम यूनान मिस्र मिट गये जहां से

इसमें उन देशों के भूखण्ड अभी तक वर्तमान है किन्तु उनकी संस्कृतियां मिट गईं।

भारत में राष्ट्र एक सांस्कृतिक इकाई है।

पश्चिमी राष्ट्र राजनीतिक इकाई से बनता है। यूरोप के रूस से लेकर आयरलैण्ड तक संस्कृति लगभग समान है। पूरे यूरोप का भूखण्ड लगभग भारत जितना ही है फिर भी बीसियों राष्ट्र हैं। भारत में सन् 1947 तक ब्रिटिश शासन में साढ़े पांच सौ रियासतें थी। उससे पूर्व भी देश में हजारों छोटे-बड़े राज्य रहे होंगे। मारवाड़, मेवाड़, चोल-चालुक्य आपस में लड़ते रहते थे। राज्य तो अनेक थे किन्तु संस्कृति एक होने के कारण राष्ट्र एक था।

भारत की राजनीतिक एकता चाहे अनेक बार खंडित होती रही है। किन्तु, हमारी सांस्कृतिक एकता सनातन काल से अभेद्य रही है। वास्तव में उत्थान-पतन के अनेक झंझावातों में तथा विदेशी आक्रमणों के प्रचण्ड बवण्डरों में भारत को सदा एक बनाये रखने वाली यह सांस्कृतिक एकता ही उसकी संजीवनी शक्ति है।

भाषाएँ बांटती हैं, संस्कृति जोड़ती है। राजनीति तोड़ती है, संस्कृति जोड़ती है। जातियां बांटती हैं, संस्कृति जोड़ती है। वर्ण आश्रम, जाति-उपजाति, प्रदेश, वेश-भूषा, आर्थिक स्तर आदि को संस्कृति ने जोड़ रखा है। भारतीय समाज नगरवासी, ग्रामवासी और वनवासी तीन स्तरों पर विकसित हुआ है। किन्तु, सभी स्तरों पर एक ही महान् संस्कृति का स्वर्णिम-सूत्र पूरे समाज को एकात्मता में

बांधने में सहायक सिद्ध हुआ है। अतः राष्ट्र की एकता का स्वर्णिम-सूत्र संस्कृति ही है। यह सूत्र टूटते ही भारत खण्ड-खण्ड हो जाएगा।

जो संस्कृति अपने देश में समन्वय का स्वर्णिम-सूत्र है, वही संस्कृति भारत के सांस्कृतिक दिग्विजय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्राणधारा है। संस्कृति के स्वर्णिम-सूत्र ने ही भारत को जगद्गुरु के सिंहासन पर बिठाया है। यदि समस्त दक्षिण-पूर्व व उत्तर एशिया के पचासों देश भारत को पुण्यभूमि मानकर भारत के कपिलवस्तु, गया, हरिद्वार की धूलि को मस्तक पर चढ़ाते हैं; यदि फिजी, गियाना, मारीशस, सूरीनाम, ट्रिनीडाड के लोग गंगास्नान के लिए हजारों मील दूर से भारत की यात्रा पर आते हैं; इंडोनेशिया के मुसलमान रामलीला-कृष्णलीला को राष्ट्रीय महोत्सव के रूप में मनाते हैं; अपने देश में सबसे पहले अन्तर्राष्ट्रीय रामायण सम्मेलन रखते हैं तो केवल सांस्कृतिक सम्बन्धों के कारण ही।

भारत एक सांस्कृतिक राष्ट्र के साथ-साथ धार्मिक राष्ट्र है। भारत एक धर्म-प्रधान राष्ट्र होने से स्वदेश एवं स्वधर्म एक ही सिक्के के दो पहलू है। यहां देवभक्ति और देशभक्ति की एक अखण्ड अभिन्न परम्परा रही है। वेद से लेकर विवेकानन्द साहित्य तक सर्वत्र देवभक्ति और देशभक्ति साथ-साथ चली है। देश और धर्म को भिन्न-भिन्न मानने से देश की सेवा धर्मपूर्वक नहीं हो सकेगी और परलोक की उपेक्षा होगी, देश की उपेक्षा करके धर्मपालन हमें इहलोक में उत्थान न दे सकेगा जैसा कि हम मध्ययुग में पाते हैं। मध्ययुग में संत देश के प्रति उदासीन थे। यदि धर्म से राजनीतिक बेहोशी फैलती है, राष्ट्र के प्रति उदासीनता आती है तो उससे क्या लाभ? यदि धर्मसाधना से देश लुट जाए तो वह साधना किस काम की? शास्त्र का मत है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।' जिससे इहलोक का अभ्युदय, परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो, वही धर्म है। अतः भारत में राजनीति धर्म का एक अंग है। इसे राजधर्म, श्रेष्ठ धर्म कहा है। बिना धर्म के राजनीति वेश्या के समान हो जायेगी। अतः भगवान् राम-कृष्ण जहां धर्म के रक्षक हैं वहां राष्ट्र निर्माता भी हैं? गीता का अवतरण राष्ट्ररक्षा और धर्मरक्षा दोनों के लिए हुआ है।

भारत में देशभक्ति ही सर्वोच्च धर्म है तथा भारतभक्ति ही भगवान् की भक्ति भी सिद्ध होती है। चारों धामों की तीर्थयात्रा के धार्मिक कृत्य से राष्ट्रीय एकता का जो चमत्कार हिन्दू धर्म ने कर दिखाया वह विश्व इतिहास में अद्वितीय है। तीर्थयात्रा की परम्परा से देवदर्शन और देशदर्शन, दोनों साथ-साथ सिद्ध हो जाते हैं। गंगोत्री के गंगाजल की कांवर भरकर यात्री सारे देश की यात्रा करते हुए जब रामेश्वर में पहुंच कर उस गंगाजल से भगवान् शिव का अभिषेक करते हैं या रामेश्वर से सागर के जल की कांवर लेकर हिमालय में केदारधाम में भगवान्

शिव का अभिषेक करते हैं उन्हें अलौकिक आध्यात्मिक संतुष्टि और भारत की सांस्कृतिक अखण्डता की अनुभूति होती है।

हिन्दू इस देश भारत को ही अपनी जन्मभूमि, पितृभूमि, पुण्यभूमि, धर्मभूमि, मोक्षभूमि एवं अपना सर्वस्व मानते हैं। यही कारण है कि हिन्दू मात्र के लिए यह धर्मभूमि और कर्मभूमि दोनों है। हिन्दू का भारत से जन्म-मरण एवं जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है। हिन्दू मात्र की समूची श्रद्धा भारत के भीतर है, भारत के बाहर कहीं नहीं है।

मुसलमान की पुण्यभूमि भारत नहीं अरब देश हैं तथा ईसाइयों के लिए येरूशलम पुण्यभूमि बन जाती है, भारत नहीं। इस तरह भारत में रहते हुए भी अहिन्दुओं की श्रद्धा भारत के बाहर चली जाती है। इसलिए वे पाकिस्तान के नाम पर देश के टुकड़े करते हैं तथा वे नागालैण्ड, मिजोरम, बोडोलैण्ड, छोटानागपुर आदि को अलग ईसाई राज्य बनाकर भारत को खण्ड-खण्ड करना चाहते हैं।

हिन्दू धर्म-दर्शन पूर्णतया स्वदेशी धर्म-दर्शन है। इसकी सभी शाखाएं भारत में ही जन्मी तथा फली-फूली है। अतः हिन्दू धर्म ही भारत का धर्म है। इसी के उत्थान से भारत का उत्थान होगा। इसे ही ऋषि अरविन्द घोष सनातन धर्म कहते हैं और वे कहते हैं—सनातन धर्म के उत्थान से ही भारत का उत्थान होना है और सनातन धर्म के पतन से भारत का पतन जुड़ा हुआ है।

इस प्रकार स्पष्टतः भारत भक्ति ही देशभक्ति और देवभक्ति दोनों ही है। तभी भारत की वंदना भारत माता के रूप में, जगदम्बा के रूप में, मां भवानी के रूप में, जगज्जननी के रूप में की गयी है। इसलिए स्वाधीनता आन्दोलन के प्रसंग में भारत का उद्घोष था, जयघोष था—वन्दे मातरम्!

जिस प्रकार देवभक्ति की पुकार है उसी प्रकार देशभक्ति की पुकार है। देश के लिए स्वामी विवेकानन्द रोते हैं, तड़पते हैं। तिलक रोते हैं। वीर सावरकर रोते हैं। मालवीयजी रोते हैं। सुभाष-गांधी रोते हैं। महर्षि दयानन्द रोते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर रोते हैं। क्या मेरी मां दुर्बल है? जिसने सारे विश्व को सभी दृष्टियों से स्तनपान कराया है, वह कभी दुर्बल नहीं हो सकती। महर्षि दयानन्दजी कहते हैं—सुराज्य से स्वराज्य कोटिशः अच्छा है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—पचास वर्षों के लिए सभी देवी-देवताओं को भूल जाओ, तुम्हारा एकमात्र आराध्यदेव, भारत है। सुभाष बोस कहते हैं—तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूंगा।

भारत एक सनातन राष्ट्र है। इसकी सीमाएँ भी प्राकृतिक है और सनातन इसकी संस्कृति है। जब ब्रह्माजी भी नहीं रहते तब भी भारतीय संस्कृति बीजरूप में अवशिष्ट रहती है। भारतीय संस्कृति के मूल में वेद हैं, ऋषि हैं, ईश्वर है। भारतीय

संस्कृति ईश्वरमूला होने से सद्मूला है, चिद्मूला है, आनन्दमूला है, आत्ममूला है। ओंकारमूला है।

भारतीय परम्परा में वेद सनातन और अपौरुषेय हैं। वेद विश्व का प्रथम प्रकाश है, इसे विश्वमनीषा ने सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया है। वेद के काल-मीमांसा के सारे प्रयास असफल सिद्ध हुए हैं क्योंकि वेद सनातन और अपौरुषेय हैं। राम-सेतु के प्रकटन ने भी वेद की सनातनता पर अपनी मुहर लगा दी है।

यदि सृष्टि है और सृष्टिकर्ता ईश्वर है, तो सृष्टि के साथ-साथ उसका विधान भी प्रकट हो जाना चाहिए। पर जिनका विधान 2000 वर्ष पूर्व या 1400 वर्ष पूर्व या आज प्रकट हो रहा है वे God या अल्लाह को न्यायकारी कैसे सिद्ध कर सकते हैं? जबकि सृष्टि को प्रकट हुए और मानव को अस्तित्व में आये लाखों-करोड़ों वर्ष हो गए। इतने समय तक अंधकार में रखने वाले God या खुदा को न्यायकारी कैसे कहेंगे?

वेद के मूल में ऋषि हैं जिन्होंने ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा वेद मंत्रों का दर्शन किया। ऋषि भी सनातन हैं क्योंकि ब्रह्माजी ने पहले मानसिक सृष्टि की और ऋषियों को प्रकट किया। फिर बाद में मैथुनी-सृष्टि प्रारम्भ हुई—

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।। 10/6, गीता

और ईश्वर तो सनातन सत्य है ही।

भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव ईश्वर की संतान है, ऋषियों की संतान है। अमृत की संतान होने से अपने मूलरूप में दिव्य है। उसमें अनन्त गुण-सम्पदा यथा अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द उसके अन्दर में समाया हुआ है। स्वयं नारायण उसके अन्तर में समाए हुए हैं जिसे साधना के द्वारा, शिक्षा के द्वारा, संस्कारों के द्वारा, तप के द्वारा जगाना पड़ता है। अन्यथा उसके अन्दर के नारायण सोए ही रह जाते हैं।

पश्चिम के दार्शनिक दर्शन की कथा यूनान से प्रारम्भ करते हैं। अरस्तू के अनुसार—Man is rational animal मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है। यह परिभाषा अधूरी है। बौद्धिकता पर नैतिकता का, नैतिकता पर आत्मा का अंकुश होना चाहिए। इसके अभाव में बौद्धिकता विकृति की ओर, पशुता-पैशाचिकता की ओर चली जाती है। यही कारण है कि आज वकालत की बड़ी से बड़ी पढ़ाई करके झूठ को सच, और सच को झूठ सिद्ध करने लग जाते हैं। इस प्रकार पश्चिमी सभ्यता, पश्चिमी शिक्षा सभ्य धूर्त पैदा कर रही है।

अतः अगर हम अरस्तू की तरह मानेंगे कि मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है, तब सच को झूठ, झूठ को सच करने वाले सभ्य धूर्त ही पैदा होंगे। अन्यों का, दुर्बलों

का शोषण करने वाले ही सिद्ध होंगे। बुद्धि का, मेधा शक्ति का दुरुपयोग करने वाले ही बनेंगे जैसा कि आज हम परिवार जीवन में, समाज जीवन में, राष्ट्र जीवन में और विश्व जीवन में देख रहे है।

अगर हम मानेंगे कि हम पाप की संतान हैं जैसा कि सेमिटिक परम्परा विशेषकर ईसाई धर्म स्वीकार करता है तो उससे पुण्यात्मा के फूल नहीं खिल सकते। आदम और हौवा का स्वर्ग में निषिद्ध फल खा लेना मूल पाप है और वह पाप से तब तक मुक्त नहीं हो सकते जब तक ईसा मसीह को व्यक्तिगत मुक्तिदाता न स्वीकारें। भले ही वह कितना ही पुण्यात्मा हो, धर्मात्मा और सदाचारी हो। अगर मूल प्रकृति में, स्वभाव में ही दोष है तो उसमें सुधार सम्भव नहीं है। कोयले को कितना ही धोएं उसे श्वेत नहीं कर सकते क्योंकि मूल में ही काला है। पर सफेद वस्त्र में प्रमाद से पड़े काले धब्बे को साबुन या पेट्रोल या अन्य उपाय से मिटा सकते हैं।

पाप जीवन का मौलिक अंग नहीं है। यह अज्ञान से, संग-दोष से हमने अपने ऊपर आरोपित कर लिया है। अतः उसे ज्ञान के प्रकाश से, सत्संग के द्वारा, सत् पुरुषों के संग के द्वारा दूर कर सकते हैं जैसा कि हम रत्नाकर डाकू में पाते हैं। नारद मुनि के सम्पर्क में आकर वह महर्षि वाल्मीकि बन जाता है, बिगड़ा हुआ वैश्यबालक विश्ववंद्य महात्मा गांधी बन जाता है। अपनी पत्नी के काम में अंधा युवक महात्मा तुलसीदास बन जाता है। करोड़ों योजन में फैला अंधकार सूर्य की एक रश्मि पड़ते ही दूर हो जाता है। अतः सृष्टि का मूलबीज पाप नहीं है। सृष्टि पाप से नहीं आनन्द से, सच्चिदानन्द से प्रकट हुई है। अतः मनुष्य मूलरूप से शुद्ध, निष्पाप है। वह दिव्य, साक्षात् ईश्वर की, ऋषियों की संतान है।

ईसाइयत के मूल में ही दोष होने से, विकृति होने से ईसाइयत के इतिहास में एक भी पुण्यात्मा को खोज पाना कठिन है।

यदि हम न्यूटन की तरह मानेंगे कि सृष्टि की तरह मानव शरीर भी नियम बद्ध जड़ यंत्र है जो कार्य-कारण की शृंखला से बंधा हुआ है, जिसमें स्वतंत्र इच्छा का कोई स्थान नहीं है, उसका अच्छा-बुरा होना, पापी-पुण्यात्मा होना तंत्रिका तंत्र का परिणाम है। ऐसा मानने पर मनुष्य को न उसके अच्छे-बुरे कर्म के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है और न कभी वह अपना सर्वांगीण विकास ही कर सकता है। इस सिद्धान्त की तार्किक नियति यह है कि मानव को दमन या सुविधा-व्यवस्था देकर जैसा चाहें Mold किया जा सकता है। समाजवादी धारा, साम्यवादी धारा न्यूटन के यांत्रिक मॉडल पर आधारित है।

परन्तु Quantum theory के प्रकाश में आने पर यह सिद्ध हो गया कि सृष्टि के प्रत्येक कण में स्वतंत्र इच्छाशक्ति है। तब मनुष्य का क्या कहना? वह

नियमबद्ध यंत्र नहीं है। इसलिए हम मनुष्य को जैसा चाहें नहीं ढाल सकते हैं। वह परिस्थितियों के कारण, दमन के कारण दबा रहता है पर जैसे ही परिस्थितियां बदलती हैं वह अपने वास्तविकरूप में प्रकट हो जाता है। वह दबाव को अस्वीकार कर देता है। क्वांटम सिद्धान्त के आ जाने पर साम्यवादी धारा का वैचारिक आधार स्वतः ही ढह गया। अतः हम अपने को जड़ यंत्र मानकर अपना स्वाभाविक सर्वांगीण विकास नहीं कर सकते और न ही अपने स्वयं के अच्छे-बुरे कर्मों के लिए उत्तरदायी बनते हैं।

अगर हम डार्विन की तरह मानेंगे कि हम पशुओं की, बंदरों की संतान हैं तो उससे पशुता और नग्नता का ही फूल खिलेगा। इससे मनुष्यत्व, देवत्व, ब्रह्मत्व का फूल नहीं खिल सकता है। पशु की भोग लीला में सभ्यता का पर्दा नहीं रहता। इसी ने नग्न भोगवाद को, अपसंस्कृति को जन्म दिया है। यह नग्नता पहले साहित्य में आई। फिर फिल्मों में, फिर नाच-घरों में, कैलेण्डरों में आई। फिर धार्मिक चित्रों में, चित्रकला और नृत्यकला आदि सर्वत्र छा गई। आज पश्चिम में ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता, कला-कौशल का पूर्ण विकास है यानी विकास के चरम पर होने के बाद भी वहां मनुष्य नर-पशु बने हुए हैं। अपसंस्कृति पूरे पश्चिम को निगल रही है और उनका आक्रमण हमारे ऊपर भी हो रहा है। इस मनुष्यता की, नैतिकता की हानि को डार्विन अपने अन्तिम जीवन में अपनी आत्मकथा में स्वीकारता है। मेरे सिद्धान्त ने नैतिकता की हानि की है, इसमें चारित्रिक विकास का अवसर नहीं है, दैवी सम्पदा अर्जन का अवसर नहीं रहा। मेरी बुद्धि, मेरा जीवन जड़-यंत्र बनता जा रहा है, सृजनात्मकता का ह्रास हो रहा है। वह स्वीकारता है कि अपने सिद्धान्तों का पर्याप्त परीक्षण किए बिना ही जल्दबाजी में मित्रों और पत्नी के आग्रह के दबाव में आकर प्रकाशित कर दिया। अन्तिम समय में स्वयं अपने सिद्धान्त को छोड़ दिया था और अपनी परम्परागत ईसाई आस्था के अनुसार अपनी मृत्यु को स्वीकारा था। पर दुर्भाग्य है गत वर्ष डार्विन की द्विशताब्दी मनाई गई पर डार्विन की प्रथम स्थापनाओं को ही याद किया गया। उनके बाद के प्रतिपादन को भुला दिया गया। अगर उसको याद करें तो जीवन की दिशा ही बदल जाएगी और सारे विश्व की दिशा ऊर्ध्वमुखी हो जाएगी।

स्पष्ट है कि अपने को बंदर की संतान मानकर हम अपना ऊर्ध्वगामी विकास, चेतना की ओर, पूर्णता की ओर नहीं कर सकते हैं। इससे मनुष्यत्व, देवत्व, ब्रह्मत्व के फूल नहीं खिल सकते हैं।

यदि हम मानेंगे कि हम काम के पुत्र हैं, जैसा कि फ्रॉयड मानता है जिसे आधुनिक मनोविज्ञान का जनक माना जाता है, जिसने पूरे पश्चिमी जगत् के साथ सारे विश्व को प्रभावित किया है। उसका कथन है कि मनुष्य में काम प्रवृत्ति ही एकमात्र जीवन प्रवृत्ति है अन्य सारी प्रवृत्ति मृत्यु प्रवृत्ति है। वह मनुष्य की सारी

चेष्टाओं में, प्रवृत्ति में, प्रकृति के सौन्दर्य आदि सबमें कामतत्त्व का ही दर्शन करता है। अगर हम फ्रॉयड की तरह स्वयं को काम का पुत्र मानेंगे, वासनाओं का बंडल मानेंगे तो जीवन में हम कभी भी काम की दासता से मुक्त नहीं हो सकते। हमारे जीवन में निर्वासना, निर्विकारता, शुद्धता, पवित्रता कभी आ नहीं सकती। यही कारण है कि आज पूरा विश्व काम की दासता में जकड़ता जा रहा है।

यदि हम स्वयं को अर्थ का पुत्र मानेंगे जैसा कि मार्क्स मानता है। मार्क्स और पश्चिम के अर्थशास्त्र की तीन मूलभूत मान्यताएँ हैं—मनुष्य जन्म से स्वार्थी है, मनुष्य का अन्तिम स्वर्णिम लक्ष्य अर्थ की प्राप्ति है और अर्थ के व्यापार में नैतिकता का कोई दखल नहीं होना चाहिए। इसी भाव ने प्राचीन काल में साम्राज्यवाद को और अर्वाचीन काल में बाजारवाद को प्रश्रय दिया है।

मार्क्स के सिद्धान्तों में विरोधाभास है—व्यक्ति मूलरूप से स्वार्थी है। मनुष्य का मूल लक्ष्य अर्थ की प्राप्ति है और अर्थ के व्यापार में नैतिकता का दखल स्वीकार नहीं है। फिर वह यह भी कल्पना करता है कि आदर्श साम्यवादी राज्य में सभी योग्यतानुसार समाज को सेवा देंगे और आवश्यकतानुसार समाज से अपना योगक्षेम प्राप्त करेंगे। ये दोनों बातें विरोधाभासी होने से कम्यूनिस्ट देशों में अभी तक साकार नहीं हुई और न भौतिकता के आधार पर भविष्य में कभी साकार होने की सम्भावना है।

यह तो आत्मिक विकास के आधार पर, चेतना के विकास पर, चरित्र के विकास पर निर्भर करता है जिसका कोई आधार साम्यवादी दर्शन में नहीं है। साम्यवाद आएगा साम्यबोध से। साम्यबोध का कोई आधार साम्यवादी दर्शन में है नहीं। क्योंकि ईश्वर है तो किसी बदमाश उचक्के का नाम है। धर्म अफीम है। नैतिकता पुराने जमाने के बाट हैं। न कर्म का सिद्धान्त है न पूर्वजन्म है और न पुनर्जन्म है। सज्जन और दुर्जन दोनों को अन्त में मरकर मिट्टी ही बन जाना है। इस प्रकार अच्छा आदमी बनने की कोई प्रेरणा भी शेष नहीं बचती। निरी-भौतिकता में श्रेष्ठ जीवनमूल्य की प्रेरणा का कोई अवसर ही नहीं है।

पर भारतीय परम्परा में यह सदैव साकार रही है, उसके परिवार जीवन में। हमारी चेतना का विकास पारिवारिक-जनों तक होता है। अत: परिवार में सभी अपनी योग्यता के अनुसार सेवा देते हैं और आवश्यकतानुसार योगक्षेम प्राप्त करते हैं। जिसकी चेतना समाज तक विकसित है वह समाज के लिए अपने तन, मन, धन को अर्पित कर देता है। जिसकी चेतना का विकास राष्ट्र तक है तो वह अपना तन, मन, धन यानी सब कुछ राष्ट्र के लिए समर्पित कर देता है। संन्यासी की चेतना मानवमात्र तक होती है। अत: संन्यासी का सारा क्रियाकलाप मानव मात्र के कल्याण से प्रेरित होता है।

अत: स्पष्ट है कि हम अपने को केवल अर्थ का पुत्र मानेंगे तो आर्थिक दासता से कभी मुक्त नहीं हो सकते।

अगर हम अपने को एडलर की तरह अहम् का पुत्र मानेंगे तो जीवन में कभी निराभिमानता, विनय का भाव नहीं आ सकता।

हम कोई कोरी स्लेट नहीं हैं जैसा कि अनुभववादी दार्शनिक लॉक मानता है जिसमें जो चाहे लिखा जा सके। यदि ऐसा होता तो अब तक अपनी कल्पना का मनुष्य साकार हो जाता।

न मनुष्य कच्ची मिट्टी का लोंदा है कि उसे चाहे जैसा आकार दे सकें और न वह शिलाखण्ड है कि जैसी चाहें उसमें से मूर्ति तराश कर निकाल सकें।

वह तो चेतन का अंश है, प्रतिबिम्ब है। साक्षात् ईश्वर की संतान है, अनन्त पथ का यात्री है। तभी तो अष्टावक्र जो अभी मां के गर्भ में है, पिता के अशुद्ध वेदपाठ को सहन नहीं कर पाता है और पिता को टोक देता है।

नचिकेता, भारत का बालक साक्षात् यमराज से अमरता का रहस्य पूछता है। आप (मृत्यु) मर जाएं, मैं अमर हो जाऊं।

पांच वर्ष का बालक ध्रुव तप के लिए वन को चला जाता है।....

छोटा-सा बालक प्रह्लाद हिरण्यकशिपु के सामने निडर खड़ा है। आठ वर्ष का बालक शंकर संन्यास लेता है।

वस्तुत: हम ईश्वर की संतान हैं। उत्तराधिकार के क्रम में हममें वही गुणधर्म समाए हुए हैं जो स्वयं नारायण में हैं। बस उसे शिक्षा, साधना, संस्कारों व तप, ज्ञान और सत्संग के द्वारा जगाना पड़ता है।

संस्कृति का विचार मनुष्य के सन्दर्भ में ही किया जाता है। अन्य योनियां भोग योनियां हैं चाहे वह पशु शरीर हो या देव शरीर। पशु शरीर में हम निकृष्ट सुख-दु:खों को भोगते हैं। देव शरीर में उत्कृष्ट सुखों को। मानव योनि कर्मयोनि के साथ भोगयोनि है। मनुष्य पीछे किए हुए कर्मों को भोगता भी है साथ ही कर्म-योनि होने से नए कर्म करने की स्वतंत्रता भी उसे प्राप्त है। पर पशु योनि में कर्म की स्वाधीनता नहीं है। वह प्रकृति से बंधी हुई, स्थिर योनि है। वह न अपना विकास कर सकती है और न पतन ही। वह आदिकाल से जैसा रहता आया है, खाता आया है वैसा ही आज भी है। वह अपना भौतिक विकास ही नहीं कर सकता तो मानसिक, बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक विकास का तो उसमें कोई अवसर नहीं है। अपने जीवन निर्वाह के लिए जितने ज्ञान की आवश्यकता है वह प्रकृति या भगवान् के घर से लेकर ही आता है। वह संस्कारों के द्वारा पालतू बनाया जा सकता है, उससे अधिक उसका विकास सम्भव नहीं है। पर मनुष्य के साथ यह

बात नहीं है, मनुष्य को कर्म की स्वाधीनता प्राप्त है। इस दृष्टि से शरीर के स्तर पर, मानसिक स्तर पर उसमें विशेषता, अपूर्वता प्रकट है। मनुष्य के शरीर में अंगूठे की बनावट, मनुष्य कमर सीधी कर मस्तिष्क ऊंचा करके चलता है। उसमें वाणी का प्रकाश, मन में कल्पनाशक्ति का विकास है। उसमें सर्जनेच्छा है, सुखेच्छा है, जिगीषा, विजिगीषा का भाव है। वह प्रकृति के बंधन को समझकर प्रकृति के पार जा सकता है। वह कर्म के बंधन को समझकर कर्म के पार जा सकता है। पर पशु सदैव प्रकृति एवं कर्म से बंधा होता है। मनुष्य दोनों के पार जाकर अपने मूल स्वरूप को, दिव्य स्वरूप को, अपने सच्चिदानन्द रूप को प्राप्त कर सकता है। अतः संस्कृति का विचार मनुष्य के सन्दर्भ में ही किया जाता है। मनुष्य ही आगे की यात्रा विकास की ओर, पूर्णता की ओर कर सकता है। इसीसे भारत में जन्म की सार्थकता है। क्योंकि प्रत्येक देश का एक मूल स्वर, एक मूल चेतना, एक विशिष्ट स्वभाव, प्रकृति होती है....और इसी दृष्टि से भारत में उपलब्ध अखण्ड साधु-संतों की परम्परा की सार्थकता है जो कि हमें नर से नारायण तक गति करा सके। स्पष्ट है प्रभु ने हमें विकास के सब साधन, मानव योनि, भारत देश में जन्म, संतों की अखण्ड परम्परा और वैदिक सनातन धर्म में जन्म दिया।

चूंकि मनुष्य अनन्त पथ का यात्री है, अनन्त योनियों को पार करता हुआ उसके शुभ-अशुभ संस्कारों के साथ वह संसार में आता है। और मनुष्य जब संसार में आता है तब अनेक पशु प्रवृत्तियों से बंधा रहता है। यथा आहार, निद्रा, भय, मैथुन, ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ आदि ऐसी प्रवृत्तियां हैं जो मनुष्य और पशु में समान हैं। अतः शिक्षा, संस्कार, तप, सत्संग, साधना के द्वारा मनुष्य को पाप व पशु प्रवृत्तियों से ऊपर उठाकर उसे मनुष्यत्व में, मनुष्यत्व से देवत्व में, देवत्व से ब्रह्मत्व यानी विकास के सर्वोच्च शिखर तक पूर्णता तक पहुंचाने का प्रयास किया जाता है। इस दृष्टि से प्रकृति, विकृति व संस्कृति पर विचार करें—

प्रकृति, विकृति और संस्कृति

मनुष्य रूपी नरपशु का शिक्षा द्वारा परिष्कार या संस्कृत न किया जाए और उसे प्रकृति पर छोड़ देने पर वह विकृति की ओर चला जाएगा। जैसे गाय का ताजा दूध अपनी प्राकृतिक अवस्था में अधिक देर तक नहीं ठहर सकता, उसमें स्वभावतः विकृति आ जाएगी, उससे दुर्गन्ध आने लगेगी और कुछ दिनों में उसमें कीड़े पड़ जाएंगे। अतः दूध को प्रकृति पर न छोड़कर उसको संस्कारित कर उससे घी, मक्खन, पनीर, खोआ, मिठाइयां प्राप्त कर लेने से वह दीर्घकाल तक चलेगा। इस प्रकार नर को सही शिक्षा, संस्कार, सही दृष्टि, सही परिवेश न मिले तो निश्चित रूप से उसमें विकृति आएगी और वह नरपशु से नरपिशाच बनेगा। जैसे रावण, कंस, हिरण्यकशिपु, नादिरशाह, तैमूर, हिटलर, Eachman आदि बने हैं। रोमन, शक,

हूण, कुषाण जाति का इतिहास, इस्लाम, ईसाइयत, कम्यूनिस्टों का इतिहास विकृति के उदाहरण हैं। जब कि प्रारम्भ से ही सही चिन्तन, सही दिशा, सही परिवेश, सही व्यवस्था, सही संस्कार का परिणाम है—राम, कृष्ण, सीता, सावित्री, दमयन्ती, विक्रमादित्य, राणा प्रताप, शिवाजी, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, मां शारदा, भगिनी निवेदिता, तिलक, सुभाष, गांधी यानी हमारे महापुरुषों की अखण्ड परम्परा। सद्गृहस्थों की अखण्ड परम्परा संस्कृतीकरण का उदाहरण है जिसने स्वयं का, राष्ट्र और सारी विश्व मानवता का मुख उज्ज्वल किया है।

तब प्रश्न उठता है कि संस्कृति क्या है?

संस्कृति मानव जीवन को संस्कारित करने की वह दिव्य परम्परा है जिसमें मानव मन को परिष्कृत कर उसके अन्दर छिपे हुए दिव्य गुणों को, उसके मूल वास्तविक परिपूर्ण स्वरूप को प्रकट करने की चेष्टा की जाती है, उसमें स्थित करने की चेष्टा की जाती है। इस क्रम में नर से नरत्व, नरत्व से देवत्व, देवत्व से ब्रह्मत्व तक उसका मूल परिपूर्ण स्वरूप है, उस तक उठाने का प्रयास किया जाता है।

तब प्रश्न उठता है कि संस्कार क्या है?

संस्कार का अर्थ है सजाना-संवारना, पूर्णता प्रदान करना। इस दृष्टि से उसमें तीन क्रियाएं सन्निहित हैं—दोषोपनयन, हीनांगपूर्ति और अतिशयआधान।

जीव अनन्त पथ का यात्री है। न जाने कितनी योनियों को पार करता हुआ वह मानव शरीर को प्राप्त होता है। वह असंख्य योनियों के संस्कार-पुंज को अपने साथ लेकर आता है। शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के संस्कार उसमें सम्मिलित हैं। इस प्रकार काल के प्रवाह से उसमें अशुभ संस्कार आ गए हैं, दोष आ गया है। उसे दूर करने का प्रयास किया जाता है। इस प्रक्रिया को दोषोपनयन कहते हैं। काल के प्रवाह से अनेक अंग उपेक्षित रह जाते हैं, उन उपेक्षित अंगों की पूर्ति को हीनांगपूर्ति कहते हैं। फिर उसका मूल, दिव्य, वास्तविक-परिपूर्ण स्वरूप प्रकट होवे; इसके लिए उसके अन्दर दिव्य गुणों का आधान किया जाता है। इसे अतिशयआधान कहा जाता है। इसमें मुख्य 16 संस्कार हैं जिसके द्वारा मानव के मूल दिव्य, परिपूर्ण स्वरूप को प्रकट करने की चेष्टा की जाती है और यह संस्कार परम्परा गर्भाधान से प्रारम्भ हो जाती है और अन्त्येष्टि तक चलती है। यानी जीव के आने के पूर्व से प्रारम्भ होकर जीव के जाने के बाद तक चलती है। गर्भाधान के द्वारा हम दिव्य आत्मा का आह्वान करते हैं, बुलाते हैं तो उसको बैठाने के लिए स्थान शुद्धि, भावशुद्धि चाहिए। हम जहां-तहां, जैसे-तैसे नहीं बैठते। स्थान को शुद्ध कर आसन लगाकर बैठते हैं। गर्भाधान द्वारा हम दिव्यात्मा-पुण्यात्मा को बुला रहे हैं तो उसके लिए उपयुक्त शुद्धि भी चाहिए। फिर जाने के बाद यह

संस्कार देते हैं कि कपाल भेदन करके जाना चाहिए था। अन्य मार्ग से गमन से, आने-जाने का क्रम बना रहेगा। इस प्रकार गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक, सूर्योदय से सूर्यास्त तक, लोक से परलोक तक हमारे जीवन का कोई भी क्षण, कोई भी कण और कोई भी कर्म धर्म से रहित, संस्कार से रहित नहीं है। धर्म व संस्कार हमारे जीवन का केन्द्र-बिन्दु है, प्राण-बिन्दु है जिससे हमारा समग्र व्यक्तिजीवन, परिवार जीवन, समाज जीवन, राष्ट्र जीवन, विश्व जीवन संचालित है। धर्म या संस्कार से बाहर कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार मानव मन का परिष्कार करने, शोधन करने, पूर्णता प्रदान करने वाले जितने भाव एवं कार्य हैं, वह संस्कार कहलाते हैं। इन्हीं संस्कारों की दिव्य परम्परा को संस्कृति कहते हैं। इस दृष्टि से संस्कृति का अर्थ श्रेष्ठतम कृति से भी होता है। जो मनुष्य को ऊंचा उठाये वह संस्कृति है, जो नीचे गिराये वह विकृति है। इस प्रकार श्रेष्ठकृति या सम्यक् कृति को भी संस्कृति कहते हैं। संस्कृति जीवन का सार है, जीवन का तात्पर्य है, जीवन के आदर्शों का विकास है, जीवन के मूल्यों का विकास है। अतः संस्कृति जीवन के मूल्यों की, जीवन के आदर्शों की सतत साधना है जो मानव को मानवजीवन का मूल्य प्रदान करती है तथा जिसकी रक्षा हेतु भारतीय वीरों ने, महापुरुषों ने अपना जीवन हंसते-हंसते उत्सर्ग कर दिया। वे जीवनमूल्य हैं—स्वतंत्रता, समानता, बंधुता आदि।

अतः मानव के सर्वोच्च विकास के लिए जो जीवनमूल्य सर्वाधिक महत्त्व के हैं उनकी एक क्रमबद्ध व्यवस्थित परम्परा ही संस्कृति है। इस दृष्टि से भारतीय मनीषियों ने चार जीवनमूल्य, आदर्श या पुरुषार्थ रखे जिसके अन्दर अन्य सारे जीवनमूल्य समाविष्ट हो जाते हैं।

ऐसे ही एक और परिभाषा दी जाती है। जब किसी विशिष्ट भूखण्ड में मानव समाज दीर्घकाल तक वास करता है तब उसमें कुछ विशेषताएं या आदर्श, या सद्गुण विकसित हो जाते हैं। उसकी परम्परा का नाम संस्कृति है।

इन जीवनमूल्यों का, आदर्शों का, सद्गुणों का दर्शन ऋषियों को ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा हुआ। अतः इसे ऋषि संस्कृति भी कहते हैं। देवों को हुआ इसलिए देव संस्कृति भी कहते हैं। मनु को हुआ इसलिए मनु संस्कृति या मानव संस्कृति भी कहते हैं। ब्राह्मणों को हुआ इसलिए ब्राह्मण संस्कृति भी कहते हैं।

प्रत्येक मानव का जन्म किसी परिवार में होता है। इसलिए संस्कारों की शृंखला भी परिवार से प्रारम्भ होती है। संस्कारों की परम्परा पिता से पुत्र, पुत्र से पौत्र, पौत्र से प्रपौत्र तक चलती रहती है। वैसे ही गुरु से शिष्य, शिष्य से प्रशिष्य को उत्तराधिकार के क्रम से स्वतः ही पीढ़ी दर पीढ़ी प्राप्त होती रहती है। मनु से

उसके पुत्र इक्ष्वाकु, इक्ष्वाकु से उसके पुत्र मान्धाता, मान्धाता से दिलीप-रघु-हरिश्चन्द्र-दशरथ-राम को प्राप्त होती है। ऐसे ही गीता के चौथे अध्याय में ज्ञान की परम्परा गुरु से शिष्य को कैसे प्राप्त होती है? यह स्वयं भगवान् बताते हैं। भगवान् स्वयं आदि गुरु हैं। उन्होंने सबसे पहले सृष्टि के आदि में सूर्य को, सूर्य ने अपने पुत्र मनु को दी। मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दी इस प्रकार परम्परा से यह ज्ञान चला आ रहा है।

मानव सृष्टि के केन्द्र में

भारतीय परम्परा में मनुष्य ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति है। **महाभारत में वेदव्यासजी कहते हैं—न हि मनुष्यात् श्रेष्ठतरं किंचित्**....मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। मनुष्य विवेकी है और सृष्टि के केन्द्र में है। अतः उसका दायित्व है कि सृष्टि की Harmony को, उसकी लय को, समन्वय को, संतुलन को बनाए रखे और सबको उनका यथायोग्य योगक्षेम प्राप्त हो। घर में जो विवेकी होता है, समाज में, राष्ट्र में जो विवेकी होता है योग्य होता है, उससे ही सब अपेक्षा रखते हैं कि वह सबमें परस्पर संतुलन और सबके यथायोग्य योगक्षेम की व्यवस्था करेगा।

पर सेमिटिक परम्परा जिसमें यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि आते हैं उनकी दृष्टि भिन्न है। बाइबिल के अनुसार God ने मनुष्य को अपने अनुरूप बनाया। वह सृष्टि का राजा है, King है, Crown है। अतः सारी सृष्टि उसके उपभोग के लिए है, उसकी सेवा के लिए है। अतः मनुष्य अपने उपभोग के लिए सृष्टि को तोड़-मरोड़ सकता है, उसके संतुलन को भंग कर सकता है, क्योंकि सृष्टि तो उसी की सेवा के लिए है। इस दृष्टि ने पर्यावरण की अपार, क्षति की है, स्वयं के अस्तित्व का संकट खड़ा होता जा रहा है।

मनुष्य का कर्म ही सृष्टि का नियामक तत्त्व है

सृष्टि कर्मसापेक्ष है। कर्मसापेक्ष होकर ही भगवान् सृष्टि करते हैं। कर्म की स्वाधीनता सिर्फ मनुष्य को ही है। अतः मनुष्य का कर्म ही सृष्टि का नियामक तत्त्व बनता है। मनुष्यों के कर्मों के आधार पर सृष्टि की रचना होती है, कर्म के आधार पर स्थित रहती है और उसी के आधार पर लय को प्राप्त होती है। मनुष्य अपने कर्म के आधार पर ही विविध योनियों में अर्थात् पशुयोनि या देवयोनि में जाता है। उत्कृष्ट कर्म उसे देवयोनि में ले जाते हैं, निकृष्ट कर्म उसे विविध पशु योनि में तथा मिश्रित कर्म से उसे मनुष्ययोनि प्राप्त होती है।

सारी सृष्टि कर्म के आधार पर जुड़ी हुई है जिसे आज विज्ञान भी स्वीकार करने लगा है। विज्ञान चार प्रकार के Force field को स्वीकारता है। Gravitational

Force ग्रेवीटेशनल फोर्स, Electromagnetic Force इलैक्ट्रोमैगनेटिक फोर्स, Nuclear Force न्यूक्लियर में दो फोर्सेज हैं वीक न्यूक्लियर फोर्स एवं स्ट्रांग न्यूक्लियर फोर्स। इन चारों के ऊपर अब Mental Force या Bio Force भी मानने लगे हैं। पर इन सबको जोड़कर रखने वाला तत्त्व Unified Force Field है— कर्म। कर्म ही सारी सृष्टि का नियामक भाव है। आज जो देव पदों पर अधिष्ठित हैं वे पूर्व कल्प में सद्गृहस्थ थे। यज्ञमय जीवन-यापन किया था। मनुष्य के कर्म ही व्यष्टि जीवन, समष्टि जीवन, व्यक्तिगत जीवन, परिवार जीवन, समाज जीवन, राष्ट्र जीवन एवं विश्व जीवन को नियंत्रित करते हैं और कर्म के चक्र को समझकर कर्म के, प्रकृति के, सृष्टि के पार अपने निजानन्द रूप में भी स्थित हो सकते हैं। अतः भारतीय संस्कृति कर्म की शुद्धता, पवित्रता, निष्कामता पर बल देती है। इसलिए भारतीय संस्कृति में कर्म पर पूरा जीवनदर्शन ही विकसित हुआ है। तीन प्रकार के कर्म हैं—प्रारब्ध, संचित एवं क्रियमाण। वेद में पांच प्रकार के कर्म बताए गए हैं—नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म, काम्यकर्म, प्रायश्चित्त कर्म एवं निषिद्ध कर्म। गीता में सकाम कर्म, निष्काम कर्म, सहज कर्म, नित्य कर्म, निजकर्म, स्वधर्म, परधर्म, निमित्त मात्र, लोकसंग्रहार्थ कर्म आदि का विशद विवेचन हुआ है।

अब चूंकि मनुष्य में स्वतंत्र इच्छाशक्ति, सर्जनेच्छा, सुखेच्छा प्रकट हुई, साथ ही वह कामनाओं से युक्त है। अतः वह अपनी कामना की पूर्ति में सृष्टि चक्र में बाधा उत्पन्न कर सकता है, मनमानी कर सकता है। इसलिए शास्त्र प्रकट कर दिये जिससे वैध रीति से कामना की पूर्ति कर सके। पहले कामना मुख्य, कर्तव्य गौण होते हैं। धीरे-धीरे कर्तव्य मुख्य, कामना गौण होती चली जाती है। कामना की पूर्ति के लिए यज्ञचक्र प्रकट कर दिया जिसका सुन्दर चित्रण गीता के तीसरे अध्याय के श्लोक संख्या 10 से लेकर 16 तक में हुआ है।

भारतीय संस्कृति के मूल में अद्वैत दर्शन

भारतीय संस्कृति जिस दर्शन परम्परा को लेकर चलती है उसमें अद्वैत दर्शन का स्थान सर्वोच्च है। अद्वैत दर्शन के अनुसार 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' अर्थात् एक ब्रह्म की ही सत्ता है और अन्य किसी की नहीं। जब ब्रह्म में 'एकोऽहं बहु स्यां' की इच्छा होती है तो वही अपनी अचिंत्य मायाशक्ति के योग से अपने आपको जीव, जगत् और ईश्वर के रूप में प्रकट करता है। विशुद्ध सत्त्वगुण के योग से अपने आपको ईश्वर के रूप में प्रकट करता है, मलिन सत्त्वगुण के योग से स्वयं को असंख्य जीवों के रूप में प्रकट करता है और तमोगुण के योग से अपने आपको जगत् के रूप में प्रकट करता है। ब्रह्म या ईश्वर के अलावा किसी का कोई अस्तित्व नहीं है। वही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण है।

तो सारी सृष्टि एक ही चेतनतत्त्व की, एक ही ब्रह्मतत्त्व की, एक ही आत्म तत्त्व की नानाविध अभिव्यक्तियां हैं। सबमें एक ही आत्मतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व पिरोया हुआ है। अतः ईश्वर के अलावा, ब्रह्म के अलावा, आत्मा के अलावा और किसी की सत्ता नहीं है। इसलिए शंकराचार्यजी कहते हैं—

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

सर्वत्र एक ही आत्मतत्त्व का विलास है। मैं ही मैं का पसारा है।

सेमिटिक परम्परा की नैतिकता केवल मनुष्य तक और वह भी अपने सम्प्रदाय तक सीमित है। इस्लाम खुदा का बंदा मानकर मनुष्य के प्रति भलाई की सीख देता है। ईसाई धर्म कहता है कि ईश्वर सबका पिता है और मानव परस्पर में बंधु हैं। इसलिए बंधुभाव से दूसरे के प्रति उपकार की बात करता है। बौद्ध धर्म सभी प्राणियों को साथी-संगी मानकर सदाचार की शिक्षा देता है। जैन दर्शन जीवदया की प्रेरणा देता है। अतः परोपकार की नैतिक प्रेरणा कोई पुत्र भाव से, कोई बंधुभाव से, कोई खुदा का बंदा मानकर जीव भाव से, दुःखी प्राणी पर दया भाव से, परस्पर सहयोग भाव से, प्रेम भाव से, करुणा के भाव से, रक्षा भाव से, अहिंसा के भाव और परोपकार का बदला चुकाने के भाव से देता है। पर अद्वैत दर्शन में तो दूसरा कोई है ही नहीं। जब तक द्वैत का भाव है, गैर का भाव है, परायेपन का भाव है तब तक खैर नहीं है। यानी तभी तो लूट, ठगी, हिंसा का भाव चलता है। पर जब कोई पराया है ही नहीं तब किसको लूटूं, किसको ठगूं? क्योंकि सब में तो मैं ही पिरोया हुआ है। सब में तो मेरी अपनी ही आत्मा है। अपने आपको कोई लूटता, ठगता है क्या? दूसरों के प्रति उपकार स्वयं के प्रति ही उपकार है, साध्यता है। इसी भाव ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को जन्म ही नहीं दिया वरन् साकार किया। इसलिए रामकृष्ण परमहंस कहते हैं—'जीव यानी शिव सेवा, नर यानी नारायण सेवा।' तभी तुकारामजी घी का कटोरा लेकर कुत्ते के पीछे दौड़ते हैं कि नारायण रोटी पर घी तो लगवा लो। तभी शिवि राजा एक कबूतर की रक्षा के लिए अपनी भुजा का मांस तौल देते हैं। राजा दिलीप गाय की रक्षा के लिए अपने शरीर को समर्पित कर देते हैं। तभी ज्ञानेश्वर महाराज वृक्ष की छाल के लिए अपने पैर की चमड़ी को छील डालते हैं....। अतः अद्वैत दर्शन से बड़ा आधार नैतिकता और सदाचार का हो ही नहीं सकता।

ईसाई धर्म कहता है, 'अपनी तरह पड़ोसी की सेवा करो।' पर इसकी व्याख्या नहीं कर पाता कि क्यों सेवा करें? इसकी व्याख्या वेदान्त करता है, ऐसा डूयसन स्पष्टरूप से स्वीकार करता है क्योंकि इसके पीछे जिस दर्शन का आधार चाहिए वह ईसाई धर्म में नहीं है। वह केवल हिन्दू धर्म के पास ही है। इसलिए हिन्दुओं ने सदैव निःस्वार्थ भाव से विश्वमंगल की साधना की है। वह अपने हित का

विचार करते समय अन्यों के हित का भी ध्यान रखता है। चाहे वह व्यक्ति के हित से सम्बन्धित हो या परिवार के हित से सम्बन्धित हो अथवा राष्ट्र के हित से सम्बन्धित हो। वह अन्यों की समस्या और हित को ध्यान में रखता है। विश्व के हित को भी ध्यान में रखता है। इस प्रकार हिन्दू समाज ने सदैव मानव मंगल की साधना की है। क्योंकि वह मानता है कि उसमें भी उसी ईश्वर का वास है। प्रत्येक नर में नारायण, प्रत्येक क्षुद्र से क्षुद्र में महान् समाया हुआ है।

इसके विपरीत ईसाइयत और इस्लाम ने सारे विश्व को रक्त से स्नान कराने का, त्रास देने का ही कार्य किया है और आज भी कर रहा है क्योंकि उनके अलावा सभी काफिर हैं या हिडेन हैं और उनका निर्मम ढंग से वध करना उनका परम कर्तव्य है, धर्म है, पुण्य है, स्वर्ग की गारंटी है।

सभ्यता और संस्कृति

सभ्यता जीवन का श्रृंगार है और संस्कृति जीवन का सार है। दोनों का यथास्थान अपना-अपना महत्त्व है। किन्तु, सार के बिना श्रृंगारसाधना प्राणहीन मृतक की शवपूजा के समान है। सभ्यता जीवन के साधनों का विकास है। किन्तु, संस्कृति जीवन का ही विकास है। उसके मूल्यों एवं आदर्शों का विकास है, भारत में उच्च कोटि की संस्कृति के साथ-साथ उच्च कोटि की सभ्यता विद्यमान थी।

भारतीय संस्कृति और पर्यावरण

भारतीय दर्शन के अनुसार सारी सृष्टि में एक तत्त्व का ही पसारा है। एक ही चेतन तत्त्व ने ब्रह्म तत्त्व ने अपने-आपको जीव-जगत और ईश्वर के रूप में अभिव्यक्त किया है। अतः सारी सृष्टि एक, अभिन्न, परस्पर सम्बन्धित, परस्पर अवलम्बित और परस्पर पूरक है। सारी सृष्टि में असंख्य यज्ञचक्र हैं जो एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, एक-दूसरे पर निर्भर हैं। स्वयं में कोई निरपेक्ष रूप से सत्तावान नहीं है। हमारे शरीर से लेकर पूरे ब्रह्माण्ड में असंख्य यज्ञचक्र हैं जो परस्पर में जुड़े हुए हैं। किसी की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। सब परस्पर निर्भर हैं। अतः एक को disturb करते ही, बाधा देते ही अन्य सभी यज्ञचक्रों में बाधा उपस्थित हो जाती है। जैसे शरीर में पाचन तंत्र है, किडनी तंत्र है, हृदय तंत्र आदि अनेक तंत्र हैं जिनमें किसी की स्वतंत्र सत्ता नहीं, सब एक दूसरे पर निर्भर हैं, एक में बाधा आते ही अन्य सबमें बाधा उपस्थित हो जाती है। वैसा ही सारी सृष्टि के साथ है। जैसे सारी जीवसृष्टि ऑक्सीजन लेती है, कार्बन डाइऑक्साइड छोड़ती है। वनस्पति, उद्भिज जगत् ऑक्सीजन छोड़ते हैं, कार्बन डाइऑक्साइड लेते हैं। अतः जीव द्वारा छोड़ी गई विषैली गैस को उद्भिज जगत् पी जाता है और ऑक्सीजन को

छोड़कर सारे वातावरण को शुद्ध कर देता है। इसको न समझते हुए जब कामना के वशीभूत होकर लिबिया ने जंगलों को अनावश्यक समझकर साफ कर दिया तो शुद्ध ऑक्सीजन की कमी हो गई। वृक्ष वर्षा को, मेघ को आकर्षित करते हैं। इसके अभाव में वर्षा की कमी हो जाती है तो पर्यावरण को क्षति पहुंचाने से वह अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प के रूप में दण्डित करता है। प्रकृति बेचारी नहीं है, वह एक महान् शक्ति है। अतः लिबिया को पुनः कृत्रिम जंगल खड़े करने पड़े। ऐसे ही विषैले जीव हैं जो वायुमण्डल की विषैली गैस पीकर वायुमण्डल को शुद्ध कर देते हैं। जैसे सांप बिच्छू आदि। अतः सृष्टि में सबका उपयोग है। चीन ने कबूतर को अनावश्यक जानकर खा गये तो देखा फसल क्रीड़ागस्त हो गयी है, कीड़ा कबूतर का भोजन है। गिद्ध मरे पशुओं को खाकर जंगलों को शुद्ध कर देते हैं। इस प्रकार सृष्टि परस्पर संतुलित है।

गीता और भारतीय दर्शन परम्परा स्पष्ट कहती है कि प्रकृति भगवान् की पत्नी अर्थात् हमारी माता है। मां को हम भोग नहीं सकते। मां से पोषण पाने के अधिकारी हैं। और प्रकृति माता में सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति की क्षमता है। हम भी परिवार में उतने बच्चों को जन्म देते हैं जिनको कि पोषण हम दे सकें। अतः प्रकृति माता में क्षमता है हम सबको पोषण दे सके। पर एक की भी इच्छापूर्ति का सामर्थ्य नहीं है क्योंकि आवश्यकता सीमित होती है पर इच्छाएं अनन्त होती हैं। प्रकृति से पोषण पाने के क्रम में जो क्षति होती है उसकी पूर्ति के लिए पंच महायज्ञ का विधान है। लेन-देन के आधार पर प्रकृति का उससे संतुलन बना रहता है।

पर ईसाइयत से ग्रसित पश्चिम ने प्रकृति को मां न मानकर दासी के रूप में, भोग्या के रूप में स्वीकारा है। वह भोग्या ही नहीं, आसुरी है जो अपनी सम्पदा को छिपाकर रखती है। वह उससे लड़कर, छीन करके, उसकी बांह मरोड़कर पाना पड़ता है। प्रकृति का मुख, दांत, नख-रक्तरंजित है, हिंसक है। वहां मां और पुत्र का भाव नहीं है।

उनके अनुसार भगवान् ने प्रथम 6 दिनों में सृष्टि की रचना की। अन्त में मनुष्य को रचा। वह सृष्टि का Crown है, मुकुट है, राजा है। राजा होने से वह सृष्टि का मालिक है। वह जैसा चाहे अपने हित में, सुख के लिए उसका उपभोग कर सकता है। वह चाहे तो उसे मार भी सकता है। अतः पश्चिम की सारी चेष्टा प्रकृति पर विजय पाने की है। वहां की कहानी में भी आदमी निकला है प्रकृति पर विजय पाने के लिए। उसने एवरेस्ट पर विजय पा ली। यह पश्चिम की भाषा है। भारत की भाषा है ऐवरैस्ट ने, सागरमाथा ने कृपाकर मुझे चढ़ने दिया। विजय की भाषा भारत की नहीं है। मां पर कोई विजय प्राप्त नहीं कर सकता। विजय अभियान यह Western system की देन है। पश्चिम की मान्यता है कि प्रकृति ने

अपने गर्भ में रत्न छिपा रखे हैं, उससे छीनना पड़ता है। उनकी मान्यता है प्रकृति पर विजय प्राप्त करके मैं सुखी हो जाऊंगा। प्रकृति पर विजय प्राप्त करना उनके खून में है, उनकी संस्कृति में है। पर मां के दूध को तो पी सकते हैं खून को नहीं। अत: पश्चिम की उपभोग की बुद्धि ने, प्रकृति से केवल लेने ही लेने की परम्परा ने, शोषण ही शोषण की दृष्टि ने पर्यावरण की समस्या को जन्म दिया।

हमारी सभ्यता जो लाखों वर्ष पुरानी है, वेद काल से लेकर अंग्रेजों के काल तक हमने आर्थिक विकास का जो मॉडल स्वीकार किया वह प्रकृति के संतुलन और अहिंसा पर आधारित रहा। वैभव की दृष्टि से हम सोने की चिड़िया कहलाए। धन और वैभव के लोभ से आकृष्ट होकर विदेशी आक्रान्ता (सिकन्दर से लेकर अंग्रेज तक) आए। हमने जो आर्थिक विकास का मॉडल स्वीकार किया उससे न कभी प्रकृति का संतुलन बिगड़ा, न ही पर्यावरण प्रदूषित हुआ। न धरती बंजर हुई, बेहोश हुई, न अन्न जहरीला हुआ, न जल, वायु आकाश ही। किसान को कभी आत्महत्या करने की नौबत नहीं आई और हमारा ग्राम सदैव स्वावलम्बी बना रहा अंग्रेजों के शासन के पूर्व तक।

पर यूरोप ने मात्र 300 वर्षों की विकास यात्रा में गलत दृष्टि को अपनाने के कारण पूरी प्रकृति को ध्वस्तप्राय कर दिया। पर्यावरण के संतुलन को बिगाड़ दिया। भूमि, अन्न, जल, वायु, आकाश जो कि जीवन की मूलभूत आवश्यकता है, सबको दूषित कर दिया। जहरीलाकर स्वयं अपने अस्तित्व के लिए संकट पैदा कर लिया और जो विकास सारी दुनिया को श्मशान बनाकर किया और कर रहा है, उस पर भी उनकी अर्थव्यवस्था चरमरा रही है, ढहने के कगार पर खड़ी है। इससे बचने का उपाय एकमात्र भारतीय दृष्टि अपनाकर ही सम्भव है।

मनुष्य का समग्र अध्ययन भारतीय वैदिक परम्परा में ही संभव हुआ

पाश्चात्य परम्परा में Mind और Matter शरीर और मन या बुद्धि से परे उनका चिन्तन गया ही नहीं। अरस्तू ने मनुष्य को एक Rational animal कहा। पर भारतीय संस्कृति कहती है कि शरीर से इन्द्रियां श्रेष्ठ, बली और व्यापक हैं। इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, बली है, व्यापक है। मन से श्रेष्ठ बुद्धि है, बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा है। शरीर मन द्वारा नियंत्रित होवे, मन बुद्धि द्वारा नियंत्रित होवे, बुद्धि नैतिकता द्वारा नियंत्रित होवे एवं नैतिकता आत्माभिमुखी हो, उससे नियंत्रित हो।

पश्चिम के आधे-अधूरे अध्ययन का ही परिणाम है कि यूनान में शारीरिक विकास, शारीरिक सौन्दर्य पर ही बल दिया गया। वहां की मूर्तिकला ने मांसल निपुणता का ही परिचय दिया है। उनके चेहरों पर आन्तरिक भावों का प्रकाश नहीं है। इसने वीर सैनिक एवं सेनापति दिए। इससे आगे न बढ़ सकी। इनकी शारीरिक

उपासना इहलौकिक है। जबकि मिस्र की शारीरिक उपासना पारलौकिक है। वहां के राजा लोग पारलौकिक चिन्तन में ही आधे से अधिक समय बिता देते थे। अपने राज्यकाल का आधा समय एवं धन शरीर को सुरक्षित रखने के लिए पिरामिड बनाने में लगा देते थे। रोम में बड़े-बड़े वमन-कक्ष बने हुए थे। जिसमें भोजन करने के पश्चात् वमन कर पुनः भोजन करते हैं, यह जिह्वा की तृप्ति का अनूठा प्रयास था। ये संस्कृतियां मात्र भौतिकता या शरीर पर आधारित थी। यानी ये धर्महीन, आत्मज्ञानहीन, पशुभाव-प्रधान एवं अर्थ और काम से प्रेरित थी। इन्होंने पशुबल से स्थूल शरीर को स्वतंत्र किया, पशुबल से अन्य दुर्बल जातियों को सताया, उन पर आधिपत्य जमाया। वे जातियां मनुष्य से पशु बन गई थी। ये संस्कृतियां मात्र भौतिकता पर टिकी होने के कारण, भोगप्रधान संस्कृति होने के कारण नश्वर सिद्ध हुई। छोटे-छोटे विदेशी आघातों से सदा के लिए विलीन हो गई।

मनुष्य का समग्रता से अध्ययन भारतीय वैदिक सनातन परम्परा में ही सम्भव हुआ। हमने शरीर, मन, बुद्धि के साथ आत्मा का भी विचार किया। आत्मा को ही परम सत्य माना। शरीर और मन को अस्वीकारा नहीं पर उसे परम सत्य नहीं माना। अतः परम महत्त्व भी नहीं दिया। इसके आधार में आत्मा को रखा। शरीर और मन को यथायोग्य स्थान दिया। अतः मनुष्य के सामने चार आदर्श रखे जिसमें दो शाश्वत और दो अस्थायी हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म और मोक्ष शाश्वत हैं, अर्थ और काम बीच में पड़ाव की तरह हैं। अन्त में धर्म और मोक्ष भी एक हो जाते हैं। यह संस्कृति आत्मा की अमरता पर आधारित होने से अजेय सिद्ध हुई है। सभी प्रकार के झंझावातों को सहने में समर्थ सिद्ध हुई है।

हम अपनी कामनाओं की पूर्ति करते हुए पूर्णता की ओर बढ़ सकें, पूर्णता लाभ कर सकें। इसके लिए चार आदर्श रखे—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जिसके अन्तर्गत सारी कामनाएं आ जाती हैं।

धर्म—यह हमारा नैतिक आदर्श है जिसमें शरीर से लेकर ब्रह्मपर्यन्त समस्त कर्तव्यों की परिपूर्ति पर बल दिया गया है। धर्म हमारे भारतीय जीवन के ताने-बाने का केन्द्रीय तन्तु है, प्राणबिन्दु है। इसका चारों पुरुषार्थों में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

धर्म वस्तुतः अविरोधी होता है। जिन्होंने भी धर्म का विरोध या धर्म को बहिष्कृत करने का प्रयास किया, वे धर्म को बहिष्कृत न कर सके परन्तु एक नीच कोटि के धर्म के उपासक हो गये, असुरता में चले गये। ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन लियो टालस्टाय ने अपनी पुस्तक What is Religion में किया है। धर्म की कोई अवधारणा सेमिटिक परम्परा में नहीं है। उनकी अवधारणा Religion तक सीमित है।

अर्थ—अर्थ हमारा आर्थिक एवं राजनीतिक आदर्श है। जिसमें धर्म पर चलते हुए धन-धान्य की प्राप्ति एवं राज्य की वृद्धि एवं समृद्धि को उचित महत्त्व दिया गया है। अर्थ न अनर्थ होना चाहिए, न व्यर्थ। डकैत का पैसा अनर्थ है, कंजूस का पैसा व्यर्थ है। धर्म के द्वारा अर्थ उपार्जित होना चाहिए और व्यापक लोकहित में उसका सदुपयोग होना चाहिए। फिर अर्थ का न अभाव होना चाहिए और न प्रभाव। दोनों स्थितियों में अपराध होते हैं।

अर्थ के अभाव में मनुष्य का विकास रुक जाता है। उसकी सारी चेतना पेट पर केन्द्रित हो जाती है और उसके लिए कुछ भी अपराध करने को तैयार हो जाता है। राष्ट्रपति वराह वेंकट गिरि देश की अतिशय निर्धनता से दुःखी होकर अश्रुपूरित वाणी में कहते हैं—'इस आजाद देश के सामान्य नागरिक को भोजन, कपड़ा और आवास की उतनी सुविधाएं भी प्राप्त नहीं हैं जितनी कि कारागार में कैद भुगतने वाले किसी चोर, डाकू या कातिल जैसे अपराधियों को भी प्राप्त होती है।' इसीलिए भुखमरी का शिकार एक गरीब सज्जन भूख से लाचार होकर अपराधी बनता है ताकि जेल में रोटी-कपड़ा और कोठरी तो मिल जाएगी। इन्होंने इन्दिराजी को एक योजना भी दी थी जिससे गरीबों को सस्ते में भोजन, वस्त्र, आवास मिल सके। पर इन्दिराजी ने उसे स्वीकारा नहीं। यह सामान्य कहावत है, 'भूखे पेट भजन न होय गोपाला' अतः सबकी प्राथमिक आवश्यकता की अवश्य पूर्ति होनी चाहिए। किसी को अर्थ का अभाव न हो इसके लिए प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था द्वारा सबकी आजीविका सुरक्षित कर दी गयी थी।

अर्थ के प्रभाव से भी अपराध होता है। जब हम अर्थ को साधन न मानकर साध्य मान लेते हैं कि रुपया खुदा तो नहीं है पर खुदा से कम भी नहीं है। 'बाप बड़ा न भैया, सबसे बड़ा रुपया' आदि भाव आने पर ही चोरी, मिलावट, कालाबाजारी, घूसखोरी, भ्रष्टाचार को प्रश्रय मिलता है। सब बिकाऊ बन जाता है, बस सबकी कीमत अलग-अलग होती है। इसी कारण संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। अर्थ के प्रभाव ने ही पश्चिम को प्राचीन काल में साम्राज्यवाद को, वर्तमान काल में बाजारवाद को, उपभोक्तावादी संस्कृति को, Use and throw की संस्कृति को जन्म दिया। भारतीय संतुलित धर्म आधारित अर्थव्यवस्था ने परिवारवाद को जन्म दिया। परिवार में परिवार के प्रत्येक सदस्य की हितचिन्ता होती है और बाजार में ऐसी वस्तु निर्मित होती थी जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले। पर बाजारवाद में विक्रेता की क्रेता को ठगने, लूटने की वृत्ति होती है। तभी आज बाजार अनावश्यक सामानों से भर गये हैं और Use and throw की संस्कृति को बढ़ावा दिया जा रहा है। धर्म के अभाव में पश्चिमी अर्थव्यवस्था अनर्थ को जन्म दे रही है। पर भारत में धर्म पर आधारित अर्थव्यवस्था ने, अर्थ का प्रभाव किसी पर न हो, अर्थ का संतुलन बना रहे, अर्थ

की विषमता न्यून हो, और अर्थ का व्यापक सदुपयोग हो इसलिए यज्ञ, दान एवं ट्रस्टीशिप के भाव को प्रश्रय देकर समाज में अर्थ को संतुलित किया गया था।

काम—काम हमारा मनोवैज्ञानिक आदर्श है। धर्म पर चलते हुए कामनाओं की उचित पूर्ति पर बल दिया गया है। काम का हमारे जीवन में मर्यादित महत्त्व है। बिना काम के कोई स्त्री माता नहीं बन सकती, कोई भी पुरुष पिता नहीं बन सकता। सृष्टि का क्रम आगे नहीं बढ़ सकता। धर्म के अविरुद्ध काम स्वयं में ईश्वरीय कृत्य है, दर्पित काम ही दण्डित होता है। हमारे यहां काम देव हैं, शैतान नहीं। विवाह संस्कार है, गृहस्थ आश्रम है, गर्भाधान संस्कार है। गर्भाधान संस्कार को समझने की आवश्यकता है। एक विराट् सत्ता जो अपने आपका अनुभव करना चाहता है। वही अपने आपको जीव, जगत्, ईश्वर के रूप में प्रकट करता है। उस महान् सत्ता को, पुण्यात्मा, दिव्यात्मा को, अनन्त पथ के पथिक को हम आह्वान करते हैं कि हमारे आंगन में आकार शिशु क्रीड़ा, बाल क्रीड़ा करने, किल्लोल करने, किलकारी मारने को आह्वान करते हैं। इसके लिए भाव की शुद्धि चाहिए, स्थान की शुद्धि चाहिए। हम जैसे-तैसे, जहां-तहां नहीं बैठते, उस स्थान को शुद्ध करते हैं, वहां आसन लगाते हैं, तब जाकर बैठते हैं। हम जैसे-तैसे भोजन नहीं करते, उसके लिए अनेक मर्यादाओं का पालन करते हैं। जब छोटी-छोटी बातों में इतनी सतर्कता बरतते हैं। तो जीवन की इतनी बड़ी घटना है जिसमें किसी पुण्यात्मा को बुला रहे हैं तो क्या उसके लिए भाव की शुद्धि, स्थान की शुद्धि नहीं चाहिए क्या? जिस भाव एवं संकल्प के साथ स्त्री-पुरुष का समागम होता है वैसे ही जीवात्मा आकृष्ट होकर हमारे आंगन में क्रीड़ा करने आती है। माता मदालसा, माता कुन्ती, माता जीजाबाई आदि का उदाहरण हमारे सामने है। अतः हमारे अन्दर शुभ संकल्प पवित्र संकल्प उदित हो इसके लिए गर्भाधान संस्कार है। गर्भाधान संस्कार के लिए वेद में मंत्र है। मैक्समूलर जिसने सारा जीवन वेदों के भाष्य में लगा दिया, जब यह अंश आया तो उसे अश्लील लगा। इसका अंग्रेजी में अनुवाद करने के स्थान पर लैटिन में अनुवाद किया। ताकि सर्वसाधारण इस स्थल को छोड़ देवें, नहीं तो वेद के नाम से जनता में गलत संदेश जायेगा। चूंकि वह ईसाई परम्परा में पला होने से जहां काम देव नहीं पाप है, शैतान है, विवाह भी न्यूनतम पाप है, अतः इसके महत्त्व को समझ नहीं पाया। हमारे यहां गर्भाधान पुण्य कार्य है, स्त्रीत्व की पूर्णता मातृत्व में है इसलिए हमारे प्रायः सभी देवी-देवता विवाहित हैं। ऋषि-मुनि विवाहित हैं। इसलिए समावर्त्तन संस्कार में गुरु-शिष्य को आदेश देता है प्रजातन्तु का छेदन मत करना। अतः जो धर्म में रहते हुए दाम्पत्य जीवन का सेवन करते हैं उसे हमारे शास्त्र ब्रह्मचर्य ही मानते हैं।

अतः काम हमारे यहां शैतान, पाप एवं अपराध नहीं जैसा कि ईसाइयत स्वीकारती है, इसलिए उनके यहां स्त्री को मातृत्व को बड़ी हेय दृष्टि से देखा

गया है। वहां के साहित्यकारों ने मां को बड़ी-बड़ी गालियां दी हैं, तुम मुझे पाप के संसार में लायी हो। हमारे यहां मां-पुत्र का सम्बन्ध सबसे पावन है पर इनके यहां उलटा है। इसलिए काम को दबाने का प्रयास किया। ईसाई धर्म वस्तुतः निवृत्तिमार्गी है, संन्यास धर्म है, प्रवृत्ति के लिए यथोचित स्थान नहीं है। मध्ययुग में यूरोप में एक बहुत बड़ा ईसाइयों का सम्प्रदाय था जिसने लाखों लोगों की जननेन्द्रियां कटवा डाली, स्त्रियों के स्तन कटवा डाले ताकि कामवासना से मुक्ति हो जाए। बहुतों ने आंखें फोड़ ली ताकि कोई सौंदर्य उन्हें आकर्षित न कर सके, शरीर को कोड़े मारे, लहू बहाया ताकि शरीर कोई मांग न करे, रात-रात सोये नहीं ताकि सपना मन को काम विकार में न डाले। यह काम को पाप, शैतान, अपराध मानने का स्वाभाविक परिणाम है। फ्रॉयड धर्म के नाम पर ईसाइयत से और ऐसे ही संतों से परिचित था। और उसमें यह धारणा पैठ गयी कि धर्म कामदमन सिखाता है। इसलिए भी वह धर्म का विरोधी हो गया और धर्म को एक पागलपन, एक अंधविश्वास समझने लगा था जो विज्ञान के प्रकाश में स्वतः लुप्त हो जायेगा।

पर काम को अविवेकपूर्वक दबाने से कामना दबती नहीं, नष्ट नहीं होती वरन् और गहरे में चली जाती है, अचेतन में चली जाती है। गांठ बन जाती है। बीज बन जाती है और वह अनेक शारीरिक व्याधि एवं मानसिक कुण्ठाओं को उत्पन्न कर हमारे व्यक्तित्व को कुण्ठित कर देती है, विक्षिप्त कर देती है, विखण्डित कर देती है, रुग्ण कर देती है। अतः काम को अविवेकपूर्वक दबाया नहीं जा सकता। इसका बहुत अच्छा उदाहरण बौद्ध धर्म है। भगवान् बुद्ध ने स्वयं गैरिक वस्त्र धारण कर परिव्रज्या ली, अपने बूढ़े पिता को भी परिव्रज्या दे दी, अपने नन्हे पुत्र राहुल को भी पीतवस्त्र दे दिया। तब अपनी पत्नी को भी भिक्षुणी बनने की अनुमति देनी पड़ी। इस प्रकार नर-नारी की तीन-तीन पीढ़ियां संन्यासी बनने लगी, आश्रम व्यवस्था गड़ाबड़ा गई। भगवान् बुद्ध के न चाहते हुए भी स्त्रियों को संघ में प्रवेश देना पड़ा। तब उन्होंने बड़े दुःख के साथ आनन्द से कहा था—यह आन्दोलन जो 1500 वर्ष तक शुद्धता से चलता अब 500 वर्षों में ही समाप्त हो जाएगा। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुणियों के लिए कठोर नियम बनाये। सावधानी रखने पर भी कालान्तर में भिक्षु-भिक्षुणियों के मठ आमने-सामने बन गये। बौद्ध धर्म को राज्याश्रय मिल गया। जिससे बौद्ध विहारों में सब सुख-सुविधाएं, सम्मान एवं निश्चिंतता का जीवन उपलब्ध होने लगा। परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में अल्पवयस्क तरुण-तरुणी के दल के दल भिक्षु-भिक्षुणी बनने लगे, आमने-सामने मठ बन गये। दीर्घकाल तक कठोर संयम पालन करना उनके लिए सम्भव नहीं हुआ और बीच में गृहस्थाश्रम की कड़ी न होने से उनका मन वाममार्ग की ओर झुक गया जहां पंच मकार की छूट है। फिर भिक्षु-भिक्षुणियों में खुलकर व्यभिचार,

पापाचार पलने लगा। अंगदेश (मुंगेर, भागलपुर के) बौद्ध सिद्धों कणहपा, सिरहपा आदि ने बौद्ध दर्शन में वामाचारी तांत्रिकों के पक्ष को मिश्रित करके अपने धर्मग्रंथ की वाणियों में पंचमकार—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा, मैथुन की प्रशंसा लिखनी प्रारम्भ कर दी तथा इस अति सीमा तक लिखने लगे कि डोमनी या रजकी के साथ सम्भोग करने पर तुरत निर्वाणपद की प्राप्ति हो जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में ऐसे भ्रष्ट बौद्ध सिद्धों की वाणियों को उद्धृत किया है। इस संभोग से समाधि वाले मंत्र ने आचार्य कण्हपा से आचार्य रजनीश, बालयोगेश्वर, दादा लेखाराम, प्रभातरंजन बाबा तक सभी को डुबो दिया।

भारतीय संस्कृति कामनाओं को अविवेकपूर्वक, अशास्त्रीय ढंग से, अमर्यादित ढंग से पूर्ति करने की आज्ञा नहीं देती है। इससे कामनाओं का परिष्कार व परिपाक एवं शमन होने के बजाय और भी अधिक उद्दीप्त होने लगती है जैसे अग्नि में घी डालने से ज्वालाएं और अधिक प्रदीप्त होने लगती है। इस्लाम ने काम प्रवृत्ति को बहुत उभारा है, उसको सम्मानित किया है। मुगल बादशाहों के हरम में हजारों स्त्रियां होती थी। फिर भी और-और की मांग एवं चाह सदा बनी रहती थी। और आज की पाश्चात्य आधुनिक सभ्यता ने, उन्मुक्त उपभोग ने सारे समाज को व्यभिचार भवन बना दिया है और वहां अनेक विकृतियां निर्मित हो रही है, उनका परिवार जीवन, समाज जीवन भी प्रायः समाप्त सा हो गया है।

हमारे यहां इसका सुन्दर प्राचीन उदाहरण राजा ययाति का है जो स्वयं अपने पुत्र की जवानी लेकर भी कामतृप्ति लाभ न कर सका। उन्होंने निष्कर्ष स्वरूप कहा—मैंने काम को, भोगों को नहीं भोगा। काम ने, भोगों ने मुझे भोगकर जर्जर, निस्तेज कर दिया है। आधुनिक उदाहरण—पश्चिम जगत् में एक बड़ा श्रेष्ठ नाम आता है केसानीहा का जो डेढ़ सौ साल पहले हुआ था। वह यशस्वी परन्तु इतना भोगी पुरुष था कि उसका नाम कामपूर्ति का प्रतीक बन गया। लेकिन उसका जीवनदृष्टान्त यह बताता है कि सारे यूरोप को अपने उपभोग का विषय बनाने के बाद भी कामविकार से अन्त में क्या वह सुखी हुआ? केसानीहा का प्रणयी जीवन ऐसा था जो सारी जिन्दगी औरतों पर लुटाता रहा, जीवन भर सम्बन्ध बनाता रहा, छोड़ता रहा और कभी बदनाम नहीं हुआ, आदर्श व्यक्ति माना जाता रहा। वह औरतों के दिलों का सौदागर था, वह जीवन भर औरतों से सम्बन्ध बनाता रहा फिर भी आजीवन कुंवारा रहा। उसने अनेकों पुस्तकें लिखी हैं जिसमें उसने 12 खण्डों में अपनी आत्मकथा लिखी है जो बहुत लोकप्रिय हुई। पर उसका अनुभव भी ययाति से भिन्न नहीं है।

कहा जाता है कि रोम के क्लबों में गुसलखाने के सामने वमन कक्ष (Vomiting Rooms) बनाये जाते थे। खाओ और वमन करो। जिह्वा की रस

तृप्ति का यह अद्भुत प्रयास था। पर मनुष्य कब तक खा सकेगा। आखिर में हर बात की एक सीमा होती है। अतः निष्कर्ष निकलता है इस तरह तृप्ति नहीं होती है। इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं पर किसी को भी तृप्ति का बोध हुआ हो ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है।

पर गृहस्थाश्रम में शास्त्र की आज्ञा से, गुरुजनों की, बड़े-बुजुर्गों की, माता-पिता की आज्ञा से हम काम का, भोगों का मर्यादित ढंग से सेवन करके एक समय विशेष के पश्चात् स्वयं उससे ऊपर उठ जाते हैं, उपराम हो जाते हैं। इस प्रकार स्पष्टतः गृहस्थाश्रम एक दुर्ग के समान है जहां हम सुरक्षित रहते हुए अपने माता-पिता, भाई-बहिन, चाचा-चाची आदि सबके सहयोग से अपने शत्रु (काम-क्रोध, लोभ) पर विजय प्राप्त करते हैं। गृहस्थाश्रम उलझने के लिए नहीं, कामना के दलदल में फंसने के लिए नहीं है वरन् स्वयं के सुलझने व अन्यों को सुलझाने के लिए है, स्वयं के खिलने व अन्यों को खिलाने के लिए है। अपनी मधुरता, प्रेम, स्नेह, वात्सल्य व सेवा बिखेरने के लिए है।

गृहस्थाश्रम में हम एक मधुर सम्बन्ध को स्वीकारकर घर को एक पाठशाला, एक मन्दिर बनाकर, दोनों मिलकर जीवन को भव्य, सुन्दर, समृद्ध बनाते हैं। अपने प्रेम का, आत्मीयता का विस्तार करते हैं। पति-पत्नी के अन्दर एक ऐसी गांठ होती है जिसे न तो गुरु, न माता-पिता, न भाई-बहिन, न मित्र-सखा खोल सकते हैं। उसे तो केवल पति-पत्नी ही परस्पर की खोल सकते हैं। विवाह के पूर्व दोनों का दस पर मन जाता होगा पर विवाह बंधन के बाद एक-दूसरे पर केन्द्रित हो जाता है। संस्कारी पत्नी अपने पति को अन्य स्त्रियों से विरतकर अपने प्रति अनुरक्त रखती है। फिर समयविशेष आता है जब वह अपने से भी विरतकर देती है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम एक दुर्ग है जहां हम सुरक्षित रहते हुए अपनी कामनाओं का परिपाक कर सर्वांगीण विकास साधित करते हैं।

पर संन्यासाश्रम खुले मैदान में रहकर शत्रु (काम-क्रोध, लोभ) पर विजय प्राप्त करना है। यह उन्हीं के लिए शक्य है जिनका विवेक का स्तर ऊंचा है जो पूर्वजन्म में साधना कर चुके हैं पर साधना के परिपाक के पूर्व शरीर छूट गया है। इस जन्म में योगभ्रष्ट के रूप में आए हैं। वे ही सीधे ब्रह्मचर्य आश्रम से संन्यासाश्रम में प्रवेश के अधिकारी हैं, जैसे—सनक, सनत्कुमार, सनंदन, शुकदेव, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर महाराज, स्वामी विवेकान्द, रमण महर्षि, मां शारदा, भगिनी निवेदिता आदि। जिनके जीवन में कोई महत् लक्ष्य है और उसी के लिए तन, मन, धन समर्पित हैं जैसे रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह आदि ने बिना गृहस्थाश्रम में प्रवेश किये देश को अपनी सेवायें दी। बहुत से वैज्ञानिक जैसे वर्तमान में पूर्व राष्ट्रपति डॉ. अबुल कलाम भी

गृहस्थाश्रम में प्रवेश किए बिना ही अपनी सेवाएं देश और समाज को समर्पित करने के अधिकारी होते हैं।

मोक्ष—मोक्ष हमारा आध्यात्मिक आदर्श है। जिसके द्वारा हम पूर्णता को, अपने मूल आत्मस्वरूप को, ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करते हैं। मोक्षार्थी को अपने कर्म को निष्काम बना लेना चाहिए। निष्कामता से चित्त शुद्ध होगा तब भगवान् के प्रति प्रेम, विरह उत्पन्न होगा। आत्म जिज्ञासा उत्पन्न होगी। तब गुरु की सन्निधि में जाना चाहिए। उनके निर्देशानुसार साधना करनी चाहिए। तब हम अपने आत्मस्वरूप का लाभ पाते हैं। आत्मब्रह्म-ऐक्य की अनुभूति करते हैं। मोक्ष की अवधारणा सेमिटिक परम्परा में नहीं है। वे स्वर्ग तक सीमित हैं जो भारतीय परम्परा के अनुसार अनित्य है।

धर्म और अर्थ में टक्कर होने से धर्म को महत्त्व देना चाहिए। धर्म को स्वीकारना चाहिए। जैसा कि भगवान् राम एवं भरत ने राज्य को तिलांजलि देकर धर्म को स्वीकारा।

अर्थ और काम में टक्कर होने से अर्थ को महत्त्व देना चाहिए। उसे स्वीकारना चाहिए। जैसा कि विप्लवी बंधुओं में पाते हैं।

धर्म और मोक्ष में टक्कर होने से मोक्ष को स्वीकारना चाहिए। उसे महत्त्व देना चाहिए। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महर्षि दयानन्द आदि में पाते हैं। कर्तव्यों का कोई अन्त नहीं है अतः जब आत्मा की पुकार आ जाए तब धर्म को त्यागकर आत्मा को स्वीकारना चाहिए।

जो चारों पुरुषार्थों को लेकर चलता है वह है सद्गृहस्थ।
जो केवल अर्थ और काम को लेकर चलता है, वह पामर जीव है।
जो धर्म और मोक्ष को लेकर चलता है, वह साधक है।
जो केवल मोक्ष को लेकर चलता है, वह है सिद्ध।

भारतीय संस्कृति इन चारों पुरुषार्थों को लेकर चलती है। जो इन चारों आदर्शों को लेकर चलता है, वह एक आदर्श नागरिक, आदर्श मानव, आदर्श पिता, पुत्र, भ्राता, सखा, माता, पत्नी, भगिनी, सखी बनकर अपने जीवन को भी साथ ही साथ समाज जीवन, राष्ट्र जीवन एवं विश्व जीवन को भी धन्य, कृत-कृत्य करते हैं। भारत की अमरता का रहस्य इन चार पुरुषार्थों को लेकर चलना ही है। पाश्चात्य देश प्रधानतः अर्थ और काम को लेकर चले हैं। विश्व की प्राचीन संस्कृतियों के अवसान का प्रमुख कारण अर्थ व काम को लेकर चलना है। वर्तमान में पाश्चात्य सभ्यता अवसान पर है। इसका प्रमुख कारण अर्थ और काम की प्रधानता के कारण समाज जीवन व परिवार-जीवन प्रायः समाप्त सा हो गया

है। इनमें धर्म और मोक्ष की अवधारणा है नहीं। मजहब की अवधारणा है। वह भी व्यवहार अर्थ और काम प्रेरित है। यद्यपि ईसाइयत निवृत्तिप्रधान है पर व्यवहार में घोर प्रवृत्तिप्रधान है। ईसाई धर्म काम को पाप मानता है, सूई के छिद्र से ऊंट तो पार हो सकता है पर धनी नहीं। स्वर्ग के राज्य में गरीब का प्रवेश है धनिकों का नहीं। पर व्यवहार में घोर कामपरायण और अर्थपरायण हैं। यूरोप के जितने भी देश हैं चाहे स्पेन हो, पुर्तगाल हो, इंग्लैंड हो, फ्रांस हो, जर्मनी हो, रूस हो। सबने अर्थ से प्रेरित होकर ही अपने साम्राज्य स्थापित किए। ये सब साम्राज्यवादी देश हैं। ये जिस-जिस देश में गए उस-उस पर आक्रमण करना, लोगों का कत्लेआम करना, वहां की सभ्यता-संस्कृति का समूल-नाश करना और अर्थ को खूब लूटना और जब तक उनके कब्जे में ये देश रहे सब प्रकार से शोषण करना और ईसाई पंथ को थोपने का प्रयास करते रहना ताकि वे देश सदा के लिए उनके उपनिवेश और बाजार बने रहें। इसी के लिए दो-दो विश्वयुद्ध ईसाई देशों के बीच हुए। इसी के लिए आठ-आठ क्रूसेड ईसाइयों और मुसलमानों के बीच लड़े गये।

चार आश्रम

भारत के ऋषियों ने चारों आदर्शों की प्राप्ति के लिए तथा व्यक्तिगत जीवन के विकास के लिए जीवन को चार आश्रमों में बांटा—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यासाश्रम।

ब्रह्मचर्य आश्रम—यह रससंचय का काल है। इसमें जीवन का पूरा नक्शा दे दिया जाता था। परा-अपरा दोनों विद्याएँ दी जाती थी। अपराविद्या मुख्य-रूप से, पराविद्या गौणरूप से। जीवन का लक्ष्य स्पष्ट कर दिया जाता था। ब्रह्मचर्य काल तपोमय होता था। जैसे पौधा जब तक पूरा वृक्ष नहीं बन जाता तब तक उसका रससंचय काल रहता है। उस काल में वह जितना रससंचय कर लेगा इसी के आधार पर आगे चलकर पूर्ण फल-फूल लगेंगे। अतः ब्रह्मचर्याश्रम में, विद्यार्थी काल में व्यक्ति जितना स्वास्थ्यरस, शक्तिरस, ज्ञानरस, धर्मरस का संचय कर लेगा, उसी के आधार पर भावी जीवन में उसका भवन खड़ा होने वाला है। अतः यह तपकाल है। गुरु-शिष्य मिलकर ही गुरुकुल बनता है। गुरुकुल की शिक्षा का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता है। इसके अन्तर्गत गायत्री मंत्र की दीक्षा दी जाती है। गायत्री मंत्र द्वारा ब्रह्मशक्ति की उपासना की जाती है। दीक्षित बालक इसके द्वारा स्वयं प्रयास करके विश्वबुद्धि से प्रेरणा और ऊर्जा ग्रहण करने लगता है।

गुरुकुल में पूरे जीवन की साधना कर, ज्ञान प्राप्त करके स्नातक में यदि पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा का भाव है तो वह कामना के परिपाक के लिए विवाह संस्कार द्वारा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है।

गृहस्थाश्रम में वह साधक पितृकुल से जुड़कर कर्म व उपासना करता है। गृहस्थाश्रम में जहां वह यज्ञ की प्रक्रिया द्वारा देवों से जुड़कर अपनी कामना की पूर्ति करता है, वहीं पर वह पंच महायज्ञों का प्रतिदिन अनुष्ठान करके अपने निष्कामता के संस्कार को भी दृढ़ करता जाता है। पंच महायज्ञों के अनुष्ठान द्वारा साधक देवों से, ऋषियों से, पितरों से, मानव समाज से, वनस्पतियों से, प्राणी समुदाय से एक आत्मीयतापूर्ण सहभागिता व साहचर्यपूर्ण सम्बन्ध जोड़ लेता है। इस प्रकार पंच महायज्ञ के द्वारा वह पूरे पर्यावरण से जुड़ जाता है।

भारतीय संस्कृति कृतज्ञताप्रधान संस्कृति होने से कर्तव्यप्रधान संस्कृति है। वह मानती है कि जन्म से ही हमें तीन ऋण प्राप्त हैं। देव ऋण, ऋषि ऋण एवं पितृ ऋण। शरीर एवं संसार में हमें जो भी भोग उपलब्ध हैं वह देवों की कृपा का फल है। अतः उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना देवयज्ञ है। ज्ञान की जो परम्परा हमें प्राप्त हुई है वह ऋषियों की कृपा का फल है। उसे सुरक्षित रखना और संवर्द्धन करना ऋषि यज्ञ है। समाज को सुसंतान देना पितृ यज्ञ है। तीनों ऋणों से उऋण हुए बिना चित्त में वैराग्य एवं भक्ति का उदय नहीं होता। चित्त में आत्मसाक्षात्कार के लिए वांछित सूक्ष्मता, शुद्धि व शक्ति का उपादान नहीं होता।

गृहस्थाश्रम में धर्मपूर्वक अर्थ उपार्जन एवं धर्मपूर्वक काम उपभोग किया जाता है। धर्मपूर्वक उपार्जित अर्थ का उपयोग कामनापूर्ति के अलावा यज्ञ, दान आदि पुण्य कर्म में भी किया जाता है। यज्ञ, दान, तप द्वारा मनुष्य पवित्र बनता है। गृहस्थाश्रम में 'मातृ देवो भव। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।' की वेदाज्ञा द्वारा धारित-संचालित होकर व्यक्ति अपने समाज से एक आत्मीय रिश्ता जोड़कर विकास करता रहता है।

पचास वर्ष की आयु के पश्चात् पुत्र को परिवार का दायित्व सौंपकर वानप्रस्थ आश्रम को अपनाने का विधान है। इसमें परिवार जीवन गौण और समाज जीवन प्रमुख हो जाता है। वानप्रस्थियों द्वारा ही गुरुकुल एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं का निर्वहन किया जाता था। इसलिए सामाजिक कार्य के लिए कार्यकर्ताओं का अभाव नहीं होता था। ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्तिजीवन प्रमुख होता है। इसमें व्यक्तिगत जीवन के विकास की दृष्टि होती थी, गृहस्थाश्रम में परिवारजीवन की विकास की दृष्टि होती है। वानप्रस्थ आश्रम में समाजजीवन, राष्ट्रजीवन के विकास की दृष्टि होती है। यह आश्रम तपःपूर्वक दिव्य उपासना करने के लिए भी होता है। यह मुख्यतः देवकुल द्वारा मर्यादित आश्रम है। उपास्य देव एवं उपासक मिलकर देवकुल बनता है।

अन्तिम 25 वर्षों के लिए संन्यास आश्रम का विधान है। संसार हमें छोड़े या

छिटकाये, इसके पूर्व हम ही संसार को छोड़ने के लिए प्रस्तुत हो जावें। संसार हमें छोड़ेगा तो हमें दुःख होगा। हम ही स्वयं संसार को छोड़ देवें, त्याग देवें तो हमें आनन्द होगा। कुल के लिए व्यक्तिविशेष के हित का त्याग, ग्राम के विकास के लिए एक परिवारविशेष के हित का त्याग एवं राष्ट्र के लिए ग्रामविशेष के हित का त्याग कर देना चाहिए। वैसे ही आत्मा के हित के लिए पूरी पृथ्वी का त्याग कर देना चाहिए।

इसलिए गीता कहती है कि जब ईश्वर की पुकार आ जाए, आत्मा की पुकार आ जाए तब सब धर्मों को त्याग कर आत्मा की शरण में या ईश्वर की शरण में चले जाना चाहिए—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। 18/66, गीता

शरीर, इन्द्रिय, मन एवं संसार के सब कर्तव्यों को त्यागकर एकमात्र मेरी शरण में आ जाओ।

संसार में कर्तव्यों का कोई अन्त नहीं है। एक सीमारेखा के पश्चात् संसार से विरक्त या अलग हो जाना चाहिए। फिर कर्म-साधना से निर्मल होकर, उपासना से निर्मलतर एवं निश्चल होकर साधक ज्ञानसाधना करने का अधिकारी बनता है। ज्ञान-साधना करने हेतु साधक संन्यास आश्रम में प्रवेश करता है। यह आश्रम 'आत्मकुल' द्वारा धारित है। यह आश्रम पराविद्या की प्राप्ति के लिए होता है। इसी जन्म में जीवन्मुक्ति प्राप्त करने, आत्मब्रह्म-ऐक्य की अनुभूति करने हेतु ही संन्यास आश्रम है।

वर्ण-व्यवस्था

समाज-जीवन के सम्यक् गठन तथा उसके विकास एवं पूर्णता लाभ के लिए वर्ण-व्यवस्था (वर्ण-भेद नहीं) अर्थात् वर्णविभाग को स्वीकार किया गया जिसमें श्रम का विभाग किया गया। चाहे परिवारजीवन हो, चाहे समाजजीवन हो, चाहे संस्थानों का जीवन हो, चाहे राष्ट्रजीवन हो इन सबके व्यवस्थित रूप से संचालन के लिए श्रम का विभाजन आवश्यक है।

व्यक्तिगत जीवन की पूर्णता एवं सामाजिक जीवन के विकास के लिए मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय आधार पर वर्ण-व्यवस्था स्थापित की गई थी। जब तक सम्यक् रूप में चली तब तक यह जीवन व्यवस्था के रूप में रही। पर जबसे इसमें विकृति आ गई तब से यह मृत्यु-व्यवस्था बनती जा रही है।

गीता में स्वयं भगवान् कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। 4/13, गीता

गुण-कर्म-विभाग के अनुसार स्वयं भगवान् ने चार वर्णों की सृष्टि की है। गुण-कर्म के आधार पर ही जन्म होता है। अतः जन्म की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पैतृक वंशपरम्परा से संस्कार के बीज प्राप्त होते हैं। फिर किस वातावरण में एवं किस संस्कार परम्परा में शिक्षित हो रहा है और फिर उसके प्रयास या कर्म की दिशा क्या है? इन तीन बातों पर वर्ण-व्यवस्था आधारित थी।

कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था वर्णभेद में परिणत हो गई। उसमें ऊंच-नीच का भाव जुड़ गया और केवल जन्म पर ही जोर रह गया। फलतः इसमें विकृति आने लगी। और यह जो कभी जीवन व्यवस्था थी वह आज मृत्यु व्यवस्था में बदलती जा रही है। पर इससे निराश होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अच्छी से अच्छी व्यवस्था में कालान्तर में विकृति आ जाती है। इस संदर्भ में जागरूकता-सावधानी एवं समय के अनुसार आवश्यक संशोधन करते जाना चाहिए जो भारत में सदा से होता आया है। हमने शक, हूण, कुषाण, ग्रीक एवं बौद्धों को अपनी वर्ण-व्यवस्था में आत्मसात् कर लिया। वर्तमान में मुस्लिम एवं ईसाइयों को भी शुद्ध कर आत्मसात् करने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से अभी हम जागरूक नहीं हुए हैं। अतः इस क्षेत्र में पुनः जागृति की आवश्यकता है।

भारतीय संस्कृति और नारी

भारतीय संस्कृति में नारी को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। ईश्वर के बाद मां को ही स्थान दिया गया है। शक्ति पूजा में मां की आराधना ईश्वर के रूप में की जाती है। नारी की हमने मां लक्ष्मी, मां सरस्वती, मां दुर्गा के रूप में वंदना की है। नवरात्र के अवसर पर कुमारी कन्या का विधिवत पूजन करते हैं। बंगाल में जन्मती बच्ची को भी मां के नाम से सम्बोधित किया जाता है। मनु भगवान् भी कहते हैं—'जहां नारियों का सम्मान होता है, पूजा होती है वहीं देव, धन, ऋद्धि-सिद्धि, कीर्ति का वास है।' विदेश यात्रा में स्वामी विवेकानन्द से पूछा, आप नारी को किस दृष्टि से देखते हो और उसे सर्वोच्च सम्मान कब मिलता है? तब स्वामीजी ने कहा था—हम नारी को मां के रूप में देखते हैं और उसे सर्वोच्च सम्मान पाने के लिए मां बनने तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। पत्नी तो वह कुछ काल के लिए है। माता वह अनन्त काल के लिए है। पत्नी तो वह एक-की है पर वह माता सबकी हो सकती है।

मानव-जाति की प्रथम गुरु माता ही है। वह निर्माता के साथ परित्राता भी है। पत्नी के रूप में वह अर्द्धांगिनी है, घर की साम्राज्ञी है, बिना पत्नी के कोई भी यज्ञकर्म सम्पन्न नहीं हो सकता। बहन और पुत्री के रूप में वह सदैव स्नेह की पात्र रही है।

पर सेमिटिक परम्परा में नारी में आत्मा नहीं है। पुरुष के मन बहलाव के लिए है, सेवा के लिए है। वह स्वयं पापिन है और पुरुष को भी पाप के संसार में लाने वाली है और वहां मां बनना घृणित कार्य है—वहां के मनीषियों ने मां को बड़ी गालियां दी है। आज भी पश्चिम में नारी मुक्ति, नारी जागरण के पश्चात् भी वहां नारी Sex symbol है। भोग्या है तभी तक उसकी पूछ है, सम्मान की पात्र है। वहां नारी का भोग्या रूप ही सर्वत्र प्रसारित है। चाहे वह नृत्य हो, गीत हो, विज्ञापन हो, साहित्य हो, कला आदि कुछ भी हो। इसलिए एक बहुत प्रसिद्ध कथन प्रचलित है—भारत में अपनी पत्नी को छोड़कर सबको मां के रूप में देखा जाता है। इसके विपरीत पश्चिम में अपनी मां को छोड़कर सबको भावी पत्नी के रूप में देखा जाता है।

भारतीय संस्कृति और विचार स्वातंत्र्य

संसार में दो प्रकार की विचार परम्पराएं देखने को मिलती हैं—एक मुक्त विचारों की परम्परा और दूसरी बद्ध-विचारों की परम्परा। भारत में मुक्त विचारों की परम्परा पाते हैं। भारत ने सत्य को किसी परिभाषा में आबद्ध नहीं किया। ऋषियों ने कहा—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'** इसलिए वेद ने सत्य की व्याख्या नेति-नेति कहकर की। गुरु नानकदेव कहते हैं—'सत्य को करोड़ों मुखों से करोड़ों युगों तक कहा जाए तो भी उसकी व्याख्या नहीं हो सकती।' रामकृष्ण परमहंस कहते हैं—'सबको झूठा किया जा सका है पर ब्रह्म को आज तक कोई झूठा नहीं कर सका।' गांधीजी कहते हैं—'हिन्दुत्व सत्य की सतत साधना है।' डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं—'हिन्दुत्व अध्यात्म क्षेत्र की खुली प्रयोगशाला है। सत्य के अनेक या अनन्त पक्ष होते हैं, उसे कोई एक साथ जान नहीं सकता।' इसलिए अनेकान्तवाद या स्याद्वाद के नाम पर एक दार्शनिक धारा ही चल पड़ी। वेद में कहा है—'सत्य तो एक है पर विद्वान् लोग उसकी नाना नाम-रूपों में व्याख्या करते हैं।' इसलिए षड्दर्शन की धारा साथ-साथ चली। यहां न किसी को सुकरात की तरह विष का प्याला पीना पड़ा, न अरस्तू की तरह किसी को निर्वासित जीवन जीना पड़ा। न ईसा की तरह किसी को सूली पर चढ़ना पड़ा, न गैलीलियो की तरह जेल में सड़ना पड़ा और न जीनो की तरह घर समेत जलना पड़ा। न किन्हीं पुस्तकालयों, देवालयों को आग दिखानी पड़ी। भारत ने कभी अपने विचारों को थोपा नहीं। पर पश्चिम की चेष्टा आज तक यही है। सभी क्षेत्रों में अपने विचारों को थोपने का प्रयास किया। आकर्षक सिद्धान्तों के नाम पर यथा वैश्वीकरण, उदारीकरण आदि। चाहे वह आर्थिक जगत् के सम्बन्ध में विचार हों, चाहे इतिहास के सम्बन्ध में विचार हों, चाहे भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में विचार हों, चाहे धर्म, संस्कृति, दर्शन, भाषा आदि के सम्बन्ध में विचार हों।

पश्चिम में बद्ध-विचारों की परम्परा पाते हैं। पश्चिम की दृष्टि यह रही कि हमने जितना जाना उतना ही सत्य है और बाकी सब असत्य है, कुफ्र है, नष्ट होने के योग्य है। सत्य को उन्होंने एक सीमा में आबद्ध कर दिया। उसके बाहर जो कुछ भी है वह सब असत्य है। यही कारण है कि जब सुकरात ने ग्रीक परम्परा से भिन्न विचार व्यक्त किया तो उसे जहर का प्याला पीना पड़ा। अरस्तू को अपने देश से निष्कासित होकर एक निर्जन टापू में अपना अन्तिम जीवन बिताना पड़ा। ईसा को यहूदी विचार परम्परा से भिन्न विचार व्यक्त करने के कारण सूली पर लटकना पड़ा। ईसाइयों ने यहूदियों को ईसा का हत्यारा घोषितकर उन पर हर प्रकार के अत्याचार किए। गैलीलियो को ईसाई परम्परा से भिन्न विचार व्यक्त करने के कारण जेल में सड़ना पड़ा और अपनी स्थापना को वापस लेना पड़ा। कोपरनिकस ने पादरियों के भय से अपने विचारों को अपने जीवनकाल में प्रकाशित नहीं किया। दार्शनिक जीनो को घर समेत जलना पड़ा, पुस्तकालयों को जलना पड़ा और देवालयों, तीर्थालयों को ध्वस्त होना पड़ा। यही बात इस्लाम के साथ भी है—या तो कुरान स्वीकारें या मौत। हिन्दू विविधता में एकता को, एकात्मता को ढूंढ़ता है। विरोधों में सत्य को ढूंढ़ता है। बुराई में भी अच्छाई खोजता है। पर पश्चिम की परम्परा अच्छाई में बुराई ढूंढ़ती है। सत्य को तोड़-मरोड़कर असत्य प्रमाणित करने की चेष्टा की जाती है। इस मौलिक भेद को सदा ध्यान में रखना चाहिए।

यदि मनुष्य को सचमुच में मनुष्य बनना है तो उसे हिन्दुत्व नहीं, हिन्दुत्व की धारणा स्वीकार करनी होगी। दूसरे के विचारों के प्रति सहिष्णु बनना होगा। असहिष्णुता उन्हीं लोगों द्वारा प्रकट होती है जो अपने विचार की श्रेष्ठता बड़े उच्च स्वर में घोषित करते हैं। किन्तु इस पर स्वयं ही आचरण नहीं करते, स्वार्थ प्रेरित हैं वे। विचार के असहिष्णु प्रचारक स्वयं आचार के संहारक होते हैं।

विचार में स्वतंत्रता, आचार में कठोरता

भारतीय संस्कृति विचार की स्वतंत्रता, उदारता और आचार में कठोरता, अनुशासन को स्वीकारती है। विचारों की विविधता को पूरा प्रश्रय दिया पर आचार में मर्यादा बनी रहे, इसके लिए समाज को आश्रम व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था द्वारा बांध दिया गया है। जिससे व्यक्तिगत जीवन एवं सामाजिक जीवन में उच्छृंखलता एवं मनमानापन निर्माण न हो। व्यक्ति और समाज अनुशासित होकर स्वयं ही क्रमशः परमलक्ष्य की ओर गति कर उसको लाभ कर सके। ऐसी ही जीवन रचना (डिजाइन) भारतीय संस्कृति द्वारा की गई है।

भारतीय समाज और जाति-व्यवस्था

भारतीय समाज जाति-व्यवस्था की भित्ति पर खड़ा है। आजकल जाति-

व्यवस्था की कतिपय आलोचना की जा रही है। किन्तु आलोचक यह भूल जाते हैं कि जाति-व्यवस्था हमारे सामाजिक जीवन की ऐसी सुदृढ़ व्यवस्था रही है कि जिसने समाज के सभी सदस्यों को छोटी-छोटी इकाइयों में संगठित रहने में सहायता की तथा हजारों वर्षों के विदेशी आक्रमणों के उपरांत भी समाज को विशृंखलित नहीं होने दिया। जहां जाति-व्यवस्था हमारी जीवन व्यवस्था रही है वहां जातिविद्वेष हमारी मरण व्यवस्था कही जा सकती है।

व्यक्ति को स्वधर्म पालन में अपने से बड़ी इकाई के प्रति समर्पण के भाव का विकास करते जाना चाहिए। शरीर धर्म में शौच, स्नान, व्यायाम, भोजन, परिश्रम, सेवा, विश्राम ये सात कर्तव्य हैं। शरीर धर्म से ऊपर कुल धर्म है, जिसमें परिवार की रक्षा, सेवा, प्रतिष्ठा करना कर्तव्य है। उसके ऊपर जाति धर्म, उसके ऊपर समाज धर्म, उससे ऊपर राष्ट्र धर्म तथा फिर विश्व धर्म है। अतः जाति सेवा तो राष्ट्र सेवा एवं विश्व मानवता की सेवा के लिए एक आवश्यक सीढ़ी है। समाज सुधार की अन्धी दौड़ में हमें वे आवश्यक सीढ़ियां ही नहीं तोड़ देनी चाहिए जिनके सहारे हम विश्व कल्याण के सर्वोच्च शिखर तक पहुंच सकते हैं।

भारतीय संस्कृति और शास्त्र प्रमाण

भारतीय संस्कृति श्रुति, युक्ति और अनुभूति को साथ-साथ महत्त्व देती है। शास्त्र, शास्त्र के अनुकूल तर्क और फिर स्वयं की अनुभूति ये तीनों साथ-साथ चलना चाहिए। शास्त्र त्याग करने वाला व्यक्ति चाहे कितना भी उच्चपदस्थ एवं तपस्वी हो, उसकी आज्ञा पालनीय नहीं है। अवतार होने पर भी बुद्ध के आदेश पालनीय नहीं बने। त्याग का आदर करते हुए भी त्यागी की शास्त्रविरुद्ध वाणी का पालन नहीं होना चाहिए।

भारतीय संस्कृति और अधिदेव

बिना अधिदेव को माने भारतीय संस्कृति न तो सिद्ध हो सकती है और न ही उसे हम समझ सकते हैं। गीता में ज्ञान की परम्परा बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं सर्वप्रथम गीता का उपदेश सूर्य को दिया। भगवान् राम समुद्र से रास्ता मांगने के लिए तीन दिन प्रार्थना करते रहे, प्रार्थना कारगर न होती देखकर कोप किया तो समुद्र देव प्रकट हुए और समुद्र पार करने का मार्ग बताया। भगवान् राम के अवतरण के साथ-साथ देवशक्तियां बंदर-भालू के रूप में रावण के संहार के लिए प्रकट हुईं। कुन्ती माता के पांचों पुत्र एवं कर्ण बिना देवों की सत्ता के सिद्ध नहीं हो सकते न ही भीष्म पितामह गंगा के पुत्र थे सिद्ध होगा।

भारतीय शास्त्र परम्परा एक ईश्वर को मानती है। उसके साथ ही प्रकृति की भिन्न शक्तियों का शासन भिन्न-भिन्न देवों के अधीन माना जाता है, जैसे

वायु, अग्नि, वरुण, कुबेर, इन्द्र आदि। ये देवता प्रकृति के भिन्न-भिन्न विभागों के शासक हैं। पर इन देवताओं का भी ईशन करने वाला जो देवाधिदेव है उसे परमेश्वर (परम + ईश्वर) अर्थात् सब पर शासन करने वाला परम शासनकर्ता कहा जाता है। अधिदेव को मानने पर ही संत रविदास जी के नारियल को स्वीकारने स्वयं गंगा माता हाथ बढ़ाकर ग्रहण करने वाली घटना सिद्ध होगी एवं रामकृष्ण परमहंस देवजी की विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना भी अधिदेव को सत्य मानने पर ही मान्य होगी। प्राचीन साहित्य में वर्णन आता है नदियां बोली, यह सब अधिदेव की दृष्टि से सही है। स्पष्ट है बिना अधिदेव को स्वीकारे एवं माने भारतीय संस्कृति की व्याख्या नहीं हो सकती।

भारतीय संस्कृति और तपोवन

भारतीय संस्कृति वन संस्कृति है। तीन आश्रम यथा ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम सीधे वन से जुड़े हुए हैं। और गृहस्थाश्रमी भी, प्रेरणा प्राप्त करने के लिए वन में ऋषियों की कुटिया में सत्संग के लिए आते हैं। यहां तक राजा अपनी चतुरंग की सेना सजाकर नंगे पांव वन में ऋषि की कुटिया में उनका कुशलक्षेम जानने एवं उनसे आदेश एवं उपदेश प्राप्त करने के लिए पहुंचता है।

वैदिक भाषा में ऐसा एक भी शब्द नहीं मिलता जिससे यह प्रमाणित हो कि जंगल में रहने वाले असभ्य और बर्बर थे। जंगली शब्द निन्दावाचक है और यह अंग्रेजी के Savage का संस्कार ग्रहण कर हिन्दी में आया है। अंग्रेजी में यह शब्द Wild, uncivilised, cruel, nude, fierce आदि के लिए आता है। हमारी संस्कृति में 'वनवासी' शब्द अत्यन्त गौरवपूर्ण अर्थ धारण करता है। आर्य सभ्यता का जन्म, लालन-पालन, विकास और संरक्षण वनवासी ऋषियों, विचारकों, आचार्यों से होता रहा। प्रणव का प्रथम घोष किसी निविड़ वन के अंतराल में ही हुआ और त्रिपथगा ज्ञानगंगा की शाश्वत धारायें भी ऐसे शान्त मनोरम वनों से प्रकट होकर सर्वत्र फैली। वन की स्निग्ध छाया में ज्ञानयज्ञ के लिए ज्योति प्रकट की गई और वहां के ऋषि त्यागी-तपस्वी द्रष्टा आचार्यों ने ब्रह्मचारियों को ज्ञान से ओत-प्रोत करके कर्म-भूमि में भेजा। यह परम्परा किसी न किसी रूप में आज तक जीवित है। कहने का तात्पर्य यह है कि आर्यों के विश्वविद्यालय नगरों के कोलाहल से दूर, शान्त निविड़ वनों में थे। वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम का आश्रय स्थल अरण्य ही था।

भारतीय संस्कृति और ब्राह्मण

भारतीय संस्कृति देव संस्कृति, सतोगुणी संस्कृति होने से ब्राह्मण संस्कृति है। भारतीय संस्कृति के धारक, वाहक, प्रसारक मुख्यतः ब्राह्मण, संत समाज, संन्यासीवृंद हैं। इनका जीवन सदाचारमय, त्यागमय, तपोमय, ज्ञानमय, सेवामय

रहा है। इसलिए ब्राह्मण को भूदेव, संतों को चलते-फिरते तीर्थ की संज्ञा दी गयी है। इसी दृष्टि से उन्हें सर्वोच्च सम्मान दिया गया है। ये समाज के जीवंत गुरु के स्थान पर हैं, आदर्श के स्थान पर हैं। प्रेरणा और प्रकाश के अक्षयस्रोत के रूप में हैं। इस अर्थ में भारतीय संस्कृति को ब्राह्मण संस्कृति कहा जा सकता है। चेतना के ऊर्ध्वमुखी विकास के कारण, सद्गुणों व चरित्र के विकास के कारण यह देवी संस्कृति है, सतोगुणी संस्कृति है, ब्राह्मण संस्कृति है।

भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषा

संस्कृत और संस्कृति, दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। संस्कृति राष्ट्र की आत्मा है और संस्कृत उस आत्मा को प्रकाशित करने वाली राष्ट्र की बोली है, भाषा है। भारतीय संस्कृति के सभी महान् एवं ऐतिहासिक अभिलेख संस्कृत तथा संस्कृत मूल वाली भारतीय भाषाओं में सुरक्षित है। अतः हमारी संस्कृति संस्कृत में ही बोलती है। संस्कृत में ही सुरक्षित है। संस्कृत के माध्यम से ही युगानुकूल परम्परा द्वारा हम तक पहुंची है। संस्कृति जीवन के महानतम आदर्शों की संस्कार परम्परा है। किन्तु, यदि कोई पूछे कि वे आदर्श क्या हैं? तो बिना भाषा के माध्यम के उन आदर्शों का निर्वचन कोई नहीं कर सकता। भाव भाषा के माध्यम से यात्रा करते हैं और भारतीय संस्कृति देव-भाषा संस्कृत के दिव्यरथ में बैठकर ही देशों, कालों एवं युगों की यात्रा करती हुई अभी तक अमर बनी हुई है।

भारतीय संस्कृति और गोमाता

भारतीय संस्कृति जिन देवों की उपासना पर अधिष्ठित है वे समस्त देवता गोमाता के विग्रह में विराजमान है, एवं गोमाता स्वयं पृथ्वी का अधिदैविक रूप है। इस संस्कृति का सर्वोच्च आदर्श यज्ञ-गोमाता के गोमय गोरस एवं गोघृत पर अवलम्बित है।

भारत के मनुष्यों की ऋषि प्रज्ञा गोमाता के दुग्धामृत का वरदान है। भारतीय बल पौरुष एवं जनगण का जीवन गोमाता की सुधाधारा एवं वृषभों के तपःपूर्ण परिश्रम का वरदान है।

यह परम दुर्भाग्य की बात है कि जहां अंग्रेजी राज-काल में यूनियन जैक के झंडे तले प्रतिदिन छह हजार गोवंश की हत्या होती थी वहीं आज अशोक के धर्मचक्र के नीचे छत्तीस हजार गोवंश के गले पर प्रतिदिन छुरी फेरी जाती है। जबकि भारत का पारम्परिक राजनैतिक आदर्श है—'गोब्राह्मण परिपालन' और हमारा सर्वोच्च सांस्कृतिक आदर्श है 'अहिंसा परमोधर्मः' जो सार्वभौम महाव्रत है—हर देशकाल में पालनीय है। केवल अत्यन्त अपवाद स्थितियों में ही हिंसा की अनुमति है।

समय के अनुसार परिवर्तन की क्षमता—भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि वह देश-काल के अनुसार अपनी मूल चेतना में परिवर्तन किए बिना ढलने की क्षमता रखती है। इसलिए भी भारतीय संस्कृति चिरंजीवी बनी हुई है।

भारत में परिवर्तन का आधार आध्यात्मिक पुरुष और अहिंसा

भारत में परिवर्तन का आधार राजनेता न होकर आध्यात्मिक-सांस्कृतिक पुरुष रहे हैं और परिवर्तन का माध्यम हिंसक क्रान्ति न होकर अहिंसा रही है, शास्त्र चर्चा रही है। शास्त्रार्थ रहा है। जो स्वयं राग-द्वेष से मुक्त है जिनका चित्त शांत है, तृप्त है, जिन्होंने अपने जीवन का निर्माण कर लिया है, जीवन का लक्ष्य पा लिया है वही तो समाज को दिशा निर्देश दे सकते है, व्यवस्था दे सकते हैं, सुख-शांति दे सकते हैं। अतः हमारे सारे शास्त्रों की रचना करने वाले, स्मृतियों की रचना करने वाले आध्यात्मिक पुरुष रहे हैं। काल के प्रवाह से जब भी विकृति आयी है तब उसमें संशोधन करने वाले पुनः सही दिशा देने के लिए सांस्कृतिक-आध्यात्मिक पुरुष ही आगे आये हैं। वेद हमारी संस्कृति का, जीवन का मूल है। वेदों में जो कर्मकाण्ड है वह मनुष्य मात्र के सभी कर्मों को नियंत्रित करने, उसमें उदात्त भाव भरने के लिए हैं। पर काल के प्रवाह से इसमें यांत्रिकता, जटिलता का समावेश हो गया और वेद के कर्मकाण्ड में ही उलझकर उसमें सीमित होने लगे, ज्ञानकाण्ड की उपेक्षा होने लगी तब इसके शमन के लिए स्वयं उपनिषद् मुखर हुए।

प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति।।

(मुण्डकोपनिषद् 1/2/7)

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।

(कठोपनिषद् 1/2/5)

(अर्थात्, यह आदर्शहीन यज्ञादि कर्मकाण्ड अदृढ़ नौका के समान है। अविवेकी लोग इसको ही जीवन का लक्ष्य बनाकर, अपनी अन्ध वासनाओं के भँवर में ही पड़े रहते हैं और आध्यात्मिक उन्नति के पद को नहीं प्राप्त कर सकते। मूढ़ लोग, अपने को पण्डित और बुद्धिमान् समझते हुए, पर वास्तव में अज्ञानवश आदर्शहीन क्रियाकलाप में फँसे हुए, आत्मिक उन्नति के सरल-सीधे मार्ग में

अग्रसर नहीं हो पाते, वे मान, दम्भ, मोह के टेढ़े मार्ग में ही फँसकर अपने जीवन को नष्ट करते हैं। उनकी दशा वास्तव में अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धे के ही समान होती है।

ऐसे ही आदर्शहीन क्रियाकलाप को लक्ष्य करके गीता के उपर्युक्त भाव प्रकट किये गये हैं।

पुनः भगवान् बुद्ध के काल में कर्मकाण्ड के नाम पर पशु हिंसा होने लगी, और सदाचार को भूलकर देश व्यर्थ के दार्शनिक वाद-विवाद में उलझने लगा तब भगवान बुद्ध आते है नैतिक जागरण का आन्दोलन चलाते हैं। पर जब बौद्ध धर्म अपने आदर्शों से च्युत होकर विकृति में, देशद्रोही गतिविधियों में लिप्त हो जाता है, तब शंकराचार्य को पाते हैं। शंकराचार्य के बाद आचार्यों की परम्परा को पाते हैं। जब-जब भी देश-धर्म में संकट आया तब-तब राजपुरुषों को नेतृत्व देने वाले आध्यात्मिक सांस्कृतिक महापुरुषों को पाते हैं। प्रभु राम के समय भी उनको नेतृत्व देने वाले विश्वामित्र, महर्षि अगस्त्य व ऋषि-मुनियों की परम्परा को, चन्द्रगुप्त के समय चाणक्य को, पुष्यमित्र के समय ऋषि पतंजलि को, हरिहर बुक्का के पीछे स्वामी विद्यारण्यक को, राणा प्रताप के समय गोस्वामी तुलसीदास को, शिवाजी के पीछे समर्थ स्वामी रामदास को, छत्रसाल के पीछ प्राणनाथ स्वामी को, सिख गुरुओं की परम्परा को, चैतन्य महाप्रभु को पाते हैं। वर्तमान के नवजागरण के आन्दोलन में राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन, महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द लाल, बाल-पाल, मदनमोहन मालवीय, सुभाष और गांधी मूलतः आध्यात्मिक महापुरुष ही थे, अहिंसक ही थे। कहीं-कहीं दुष्टता के दलन के लिए ही अन्तिम हथियार के रूप में हिंसा का सहारा लेना पड़ा है। पर पश्चिम में चाहे ईसाइयत हो या इस्लाम या कम्यूनिज्म हो सबके परिवर्तन के मूल में हिंसा का ताण्डव नृत्य पाते हैं और भीषण राग-द्वेष से ग्रसित पुरुषों को पाते हैं चाहे वे ईसाईमत के अनुयायी हों, चाहे इस्लाम मत के प्रवर्तक और उनके अनुयायी हों, चाहे कम्यूनिज्म के प्रवर्तक और उनकी शिष्य परम्परा हो या अनुयायियों परम्परा हो। अतः भारत में परिवर्तन का आधार मूलतः राग-द्वेष से रहित आध्यात्मिक, सांस्कृतिक महापुरुष रहे हैं और अहिंसा रही है जबकि पश्चिम में भीषण राग-द्वेष से ग्रसित पुरुष और हिंसा रही है। यह भारत और पश्चिम में मूलभूत अन्तर है।

भारतीय संस्कृति मिश्रित या खिचड़ी संस्कृति नहीं है

कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारत महादेश को 'महामानवेर महासागर' कहा है। विश्व की अनेक निराश्रित जातियों को यहां आश्रय स्थल मिला है। अतः भारत को अनेकानेक संस्कृतियों का पावन संगम स्थल माना गया। किन्तु, क्या भारतीय

संस्कृति की सरिता केवल उधार लिए हुए जल से भरी हुई है? नहीं, ऐसा मानना तो सत्य का हनन करना होगा। जैसे अमर तरंगिणी सुर-सरिता अपनी हजारों मील की लम्बी यात्रा में अनेकानेक नदी-नालों को आत्मलीन करती हुई, उन्हें भी गंगा बनाती हुई निरन्तर प्रवहमान है, वैसे ही भारतीय संस्कृति की मंदाकिनी अपने भीतर आर्य एवं आर्येतर संस्कृतियों के श्रेष्ठ गुणों को आत्मसात् करती हुई निरन्तर जीवन-रस से तरंगित हो रही है।

डॉ. राधाकृष्णन् का मत है कि आज का हिन्दू धर्म आर्य एवं द्रविड़ संस्कृतियों के एकाकार हो जाने से बना है। श्री रामधारी सिंह दिनकर ने भारतीय संस्कृति में आर्य, द्रविड़, आग्नेय, आस्ट्रिक, यूनानी, मंगोल, शक, मुस्लिम तथा यूरोपीय तत्त्वों का सम्मिश्रण बताया है। पर मेरे गुरु डॉ. ओबरायजी का यह निर्भ्रांत मत है कि चाहे इस प्रकार की बीसियों जातियों का प्रभाव भारतीय संस्कृति पर पड़ा हो, पर भारत की आत्मा सदा भारतीय ही रही है तथा बाहर की संस्कृतियों का प्रभाव केवल संस्कृति के बाहरी कलेवर पर ही पड़ा है। वैदिक ऋषि हवन-यज्ञ करते थे। पूजा-अर्चना द्रविड़ों से आई। तिलक, कुंकुम, सिन्दूर लगाना द्रविड़ों तथा आग्नेयों से आया। किन्तु इससे धर्म की आत्मा में कोई अन्तर नहीं पड़ा। केवल बाहर की प्रक्रिया बदल गई। जिस अनादि, अनन्त, सत्ता के निमित्त हवन में हवि दी जाती थी, उसी के निमित्त पत्र, पुष्प, जल चढ़ाया जाने लगा। उसी एक अविनाशी सत्ता की आरतियां उतारी जाने लगी। उसी का नामस्मरण, जप आदि किया जाने लगा। इस प्रकार धर्म के पहनावे, बाह्य कलेवर बदलते गए किन्तु धर्म की आत्मा सदा एकरस रही। फिर किसी भी देश की संस्कृति को मिली-जुली संस्कृति नहीं कहा जाता है। यद्यपि सभी संस्कृतियां अन्य संस्कृतियों के तत्त्वों को ग्रहण करती हैं पर न वह मिली-जुली संस्कृति कहलाती है न ही इसका ढोल पीटा जाता है।

अत: वर्तमान समय में भी भारत में जो संस्कृति है, वह स्वरूपत: वैदिक संस्कृति ही है। यद्यपि युगों से चली आ रही इस वैदिक संस्कृति के बाह्य कलेवर में अनेकों परिवर्तन हुए हैं तथा बाह्य स्तर में अनेकों विकृतियां भी दिखलाई देती हैं। पर इसकी आत्मा में वही विशुद्धि आज भी है जो इसके स्थापना काल में रही है। इसकी प्राणशक्ति आज भी वैदिक धर्म ही है। यह तथ्य इस संस्कृति द्वारा प्रसवित अद्वैताचार्यों, संतों, महापुरुषों के जीवन द्वारा एवं महान् कलाविदों व साहित्यकारों की श्रेष्ठ रचनाओं द्वारा प्रमाणित हो रहा है।

अत: स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति से तात्पर्य किसी भी खिचड़ी संस्कृति, मिश्रित संस्कृति या गंगा-जमुनी संस्कृति से नहीं है। विशुद्ध व वैदिक हिन्दू संस्कृति का ही बोध होता है। तभी तो इण्डियन फिलॉसफि से वेदोपनिषद्, षड्दर्शन तथा

बौद्ध-जैन दर्शनों का ही निर्देश पाया जाता है। जिसे स्वयं नेहरूजी ने Discovery of India में स्वीकारा है। इन्दिरा गांधी ने सन् 1983 के नई दिल्ली में आयोजित रामकृष्ण विवेकानन्द सम्मेलन में स्वीकार किया था, 'बहुत समय तक यूरोप में सभी धर्मों को हिन्दू में शामिल किया जाता था।' इन्दिराजी कहती हैं—मुझे याद है सन् 1935 या उसके आसपास यूरोप गई तो वहां के लोगों ने मुसलमानों का जिक्र भी हिन्दुओं के रूप में किया। आप कौन से हिन्दू हैं क्या आप इस्लाम का पालन करते हैं या वेदान्त अथवा किसी दूसरे धर्म का? ऐसी ही बात थी। क्योंकि हिन्दू का अर्थ वे भारतीय ही समझते थे।

सन् 1957 में जब नम्बूदरीपाद केरल के मुख्यमंत्री बने तो वामपंथियों के लिए यह बड़े महत्त्व की बात थी क्योंकि वह भारत में पहली वामपंथी सरकार थी। शपथग्रहण समारोह में चीनी नेता माओत्से तुंग आये। नम्बूदरीपाद ने उन्हें उपहार दिया। क्या था वह उपहार? आजकल की परम्परा के अनुसार जब उस उपहार को मंच पर खोला गया तो नम्बूदरीपाद ने कहा था कि यह भारत का प्रतीक है। वह नटराज की मूर्ति थी। जो नम्बूदरीपाद स्वयं को हिन्दू नहीं मानता वह भी जब भारत की पहचान बताने का प्रयास करता है तो आधार हिन्दुत्व का ही लेता है।

स्व. राजीव गांधी जब प्रधानमंत्री बने तो शेष विश्व का भारत से परिचय कराने के लिए भारत उत्सव का आयोजन मास्को में किया गया। उसका प्रारम्भ वैदिक गीत, भारतीय नृत्य से हुआ। उसमें प्रदर्शित वस्तुएं हिन्दू संस्कृति से सम्बन्धित थीं। राजीव गांधी जो कहते थे मेरी मां हिन्दू, मेरे पिता पारसी, मेरी पत्नी ईसाई पर मेरा कोई धर्म नहीं—वह कहते हैं ये सब भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि हैं।

अत: स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति खिचड़ी संस्कृति नहीं है। और बड़े मजे की बात गंगा-जमुनी संस्कृति की बात न यहां मुसलमान करते है और न ईसाई। न उन्हें यह स्वीकार्य ही है। 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान' गांधी जी तो नित्य प्रार्थना में गाते रहे, गवाते रहे पर मौलाना अब्बुल कलाम आजाद ने कभी गाया और न ही स्वीकारा। और रहीम, रसखान, महमुद करीम छागला आदि ने स्वीकारा तो ये अपवाद स्वरूप है जिसे स्वयं मुस्लिम समाज मान्यता नहीं देता आदर्श रूप में स्वीकारने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उन्हें मुसलमान भी नहीं मानते। उन्हें इस्लाम से च्युत एवं काफिर मानते हैं। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार इस्लाम एक बंद निकाय की तरह है, जो मुसलमानों और गैर मुसलमानों के बीच भेद करता है। इस्लाम का भ्रातृभाव मानवता का भ्रातृत्व नहीं है, मुसलमानों का मुसलमानों से ही भ्रातृत्व है। बंधुत्व है। जो इस निकाय से बाहर है उनके लिये

इसमें सिर्फ घृणा और शत्रुता ही है। दूसरे शब्दों में इस्लाम एक सच्चे मुसलमान को इसकी अनुमति कभी नहीं दे सकता कि वह भारत को अपनी मातृभूमि समझे और हिन्दू को अपना सम्बन्धी तथा आत्मीय माने। सम्भवतया इसलिए मौलाना मोहम्मद अली ने जो एक महान् भारतीय किन्तु एक सच्चे मुसलमान थे, भारत की अपेक्षा जेरूसलम में दफनाया जाना अधिक पसन्द किया। इसलिए स्वामी विवेकानन्द जी ने भी हिन्दुओं के जितने भी मत, पंथ, सम्प्रदाय, वर्ण, जाति, उपजाति, अंत्यज सभी को भाई कहा पर मुसलमानों को नहीं। क्योंकि वे उनकी मजहबी मान्यता से, उनकी अराष्ट्रीय एवं अमानवीय वृत्ति से परिचित थे। इसलिए स्वामीजी कहते हैं जब कोई हिन्दू मुसलमान या ईसाई बन जाता है तब हमारा एक भाई कम नहीं होता वरन् राष्ट्र का एक शत्रु बढ़ जाता है। खिलाफत आन्दोलन के चार वर्ष बाद लाला लाजपतराय ने बैरिस्टर चितरंजन दास को लिखा था कि पिछले छह मास मैंने मुसलमानी इतिहास और इस्लामी कानून के अध्ययन में व्यतीत किये। मैं अब इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि हिन्दू-मुस्लिम एकता न तो सम्भव है और न ही व्यावहारिक। मुसलमान कुरान से परे जाने की बात सोच भी नहीं सकते। पुनः कहते हैं—मुसलमानी नेताओं पर भी विश्वास करने को तैयार हूं किन्तु कुरान, हदीस की आज्ञाओं की बाधा को हम कैसे दूर कर सकेंगे? मुसलमान नेतागण तो उन आज्ञाओं के विरोध में कभी जा नहीं सकते।

हिन्दू अपने भोलेपन में कहता है कि मुसलमान अच्छा मुसलमान बने, ईसाई अच्छा ईसाई बने। इनका सच्चा और अच्छा बनने का अर्थ ही है काफिरों व हिडेनों से कोई आत्मीय रिश्ता नहीं जोड़े। अवसर मिलते ही इनका वध करे, यह उनका मजहबी कर्तव्य है, पुण्य कर्म है, स्वर्ग देने वाला है। ईसा के माता-पिता-पूर्वज, मुहम्मद के माता-पिता, पूर्वज किसी भी तर्क से ईसाई या मुसलमान नहीं हो सकते, उन्हें भी इन्होंने नरक में स्थान दिया है। अपने-अपने देश की पूर्व सभ्यता, संस्कृति, धर्म-दर्शन, इतिहास एवं परम्परा को समूल नष्ट कर दिया तो क्या अन्य को बख्शेंगे? मुहम्मद से पूर्व अरब की स्थिति को अज्ञानांधकार में बताते हैं। इस्लाम से पूर्व अरब अज्ञानांधकार में था या इस्लाम को अपनाने के बाद यह तो इतिहास बतायेगा। इतिहास तो बताता है इस्लाम को अपनाने से पूर्व से चली आयी ज्ञान-विज्ञान की परम्परा नष्ट हुई, स्त्रियों की स्थिति दयनीय हुई। स्वयं खदीजा व्यापार करती थी। मुहम्मद साहब के काफिले का नेतृत्व भी उसके पास था, व्यापार में सहयोगी के रूप में नियुक्त हुए, बाद में विवाह-बंधन में बंध गये। यूरोप का मध्ययुग इतिहास में अज्ञानांधकार का युग माना जाता है। ईसाइयत से पिण्ड छुड़ाकर ही पश्चिम में ज्ञान-विज्ञान की यात्रा सम्भव हो सकी। जहां भी इनका राज्य है अन्य धर्मों-पंथों का कोई भी चिह्न शेष नहीं रहने देते। यही कारण

है कि अफगानिस्तान के बामीयान में संसार की सबसे विशाल बुद्ध की खड़ी मूर्ति जो 175 फुट ऊंची थी, को तालिबान ने तोप लगाकर उड़वा दिया, इंडोनेशिया पर निरन्तर आघात जारी है, पाकिस्तान बांग्लादेश में बचे-खुचे हिन्दू चिह्नों को नष्ट किया जा रहा है, कश्मीर घाटी से हिन्दुओं को निकाल बाहर किया और बचे-खुचे हिन्दू चिह्नों को नष्ट किया जा रहा है। मिजोरम, मेघालय आदि में हिन्दुओं को या तो धर्मान्तरित या वध से निष्कासित कर दिया गया है। जो सहअस्तित्व को मानते ही नहीं। अरब आदि देशों में इस्लाम के अतिरिक्त अन्य उपासनायें दण्डनीय अपराध है।

मुसलमान जहां अल्पसंख्यक होते हैं वहां विशेष अधिकार की, सुविधाओं की मांग करते हैं और जहां बहुसंख्यक होते हैं, वहां असहिष्णु होते हैं। सभी राजनीतिक दलों से उन्हें सुविधा प्राप्त हो इसके लिए ही उनमें शामिल होते हैं। मुसलमान जब-तब दंगा-फसाद के लिए उतर आते हैं, मनमानी करते हैं और इसका उत्तर देने के लिए कभी-कभार हिन्दू समाज तत्पर होता है तब मुसलमानों पर अत्याचार हो रहा है, अत्याचार हो रहा है उसका देशभर में ही नहीं विश्वभर में शोर मचाते हैं। भारत में इन्होंने कभी भी अल्पसंख्यक रूप का तो परिचय दिया नहीं, सदैव उत्पाती के रूप में ही अपना परिचय दिया है और दे रहे हैं। उन्होंने स्वयं को विशेषाधिकार सम्पन्न शासक कौम का माना है। क्योंकि उन्होंने भारत को तलवार के बल पर जीत कर उस पर शासन किया है। अतः भारत पर उनका अधिकार है और वे शासक कौम के हैं। इसलिये कर्बला के जुलूस के समय घोष करते चलते हैं। याद करें औरंगजेब के जमाने को....मुसलमान शासक है हिन्दू शासित हैं, वे उनके समान कैसे हो सकते हैं, और उनको समान अधिकार कैसे दिया जा सकता है? पश्चिम में जब से आत्ममंथन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तब से वे ईसाइयत को छोड़ते जा रहे हैं। पर इस्लाम में तो आत्ममंथन की प्रक्रिया प्रारम्भ होते ही मौत के फतवे जारी हो जाते हैं। जिस दिन इनमें आत्ममंथन की प्रक्रिया प्रारम्भ होगी इस्लाम अपने आपको बचा नहीं पायेगा।

गांधीजी ने मुसलमानों व ईसाइयों को राष्ट्र की मूलधारा में लाने के लिए खिलाफत का समर्थन किया, हिन्दुओं के परम्परागत भगवे झण्डे के स्थान पर तिरंगे को स्वीकार किया, हिन्दी भाषा के स्थान पर हिन्दुस्तानी को जिसमें फारसी, उर्दू, अंग्रेजी के शब्दों को उसमें बड़ी मात्रा स्वीकारा। कवि भूषण की कविताओं से मुसलमानों को बड़ा दुःख पहुंचता है, अतः उसे साहित्य से बाहर कर दिया। आज भूषण हिन्दी साहित्य में नहीं पढ़ाये जाते। मुसलमानों को खुश करने वंदेमातरम गीत को छोड़ दिया, आज केवल दो पद गाये जाते हैं। पर इसका परिणाम देश विभाजन ही आया। स्वतन्त्रता के 64 वर्ष बाद भी फिर से हम वही सारी गलतियां दोहरा रहे

हैं। मुसलमानों की सारी नाजायज मांगें मानकर, देश विभाजन को स्वीकार करके तथा उनके लिए अपने प्राण की बलि देकर भी गांधीजी उनके अपने नहीं बन सके और पंडित नेहरू जी सारा जीवन उनका अंधसमर्थन करके भी उनके अपने नहीं बन सके फिर भी ऐसी बात हिन्दू राजनेता वोट की राजनीति से प्रेरित होकर करते हैं या फिर हिन्दू समाज अपने भोलेपन में ही करता है।

भारतीय संस्कृति से किसी खिचड़ी संस्कृति की कल्पना विदेशी विद्वान् नहीं कर सकते। पाश्चात्य विद्वानों की जो भारत पर दृष्टि है वह नवीन नहीं, प्राचीन वैदिक औपनिषदिक और गीतोक्त भारत पर है, भारतीय संस्कृति पर है। उसी से मार्गदर्शन की अपेक्षा करते हैं। उसे ही शाश्वत अमर भारत मानते हैं। आज का भारत तो स्वयं पथच्युत है, भ्रष्ट है। वह उन्हें स्वीकार्य नहीं।

यद्यपि संस्कृति भौगोलिक सीमाओं में नहीं बांधी जा सकती है फिर भी जिस भूमि पर वह निर्मित होती है उस भूमि से वह सम्बन्ध अवश्य रखती है और उस भूमि के नाम से ही विश्व में पहचानी जाती है। इसी दृष्टि से इसे वैदिक संस्कृति, आर्य संस्कृति, सनातन संस्कृति, भारतीय संस्कृति, हिन्दू संस्कृति कहा जाता है।

जब हम हिन्दुत्व के उत्थान की बात करते हैं तब कहा जाता है कि हिन्दू शब्द बहुत प्राचीन नहीं है। न यह वेद में मिलता है, न उपनिषद् में, न ब्राह्मणों में, न पुराणों में, न रामायण और न ही महाभारत में। वेदों में तो संस्कृति को 'सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा' कहा गया है। जब भी धर्म का वर्णन हुआ, 'एष मानवधर्म' के रूप में उल्लेख हुआ है। बाद में जो सेमिटिक मजहब दुनिया में आए, उनके पूर्व की संस्कृतियां एक जैसी थी। भारत में जो प्राचीन विश्वधर्म, विश्वसंस्कृति, विश्व जीवनमूल्य थे उनको सेमिटिक मजहबों के जीवनमूल्यों से भिन्न दिखाने के लिए हिन्दू शब्द भारत में रूढ़ हो गया। यह इसी प्रकार की बात है जैसे कि घी का अर्थ ही होता है गाय का घी। पर जबसे बाजार में अन्य घी (नकली घी) भी आ गए तब उनसे पृथक्ता जतलाने के लिए शुद्ध गाय का घी लिखा जाने लगा।

हमारा राष्ट्रीय आदर्श 'वसुधैव कुटुम्बकम्' है। हमने सारे विश्व को एक बाजार, उपनिवेश या साम्राज्य नहीं वरन् एक परिवार माना है क्योंकि हम सब एक ही ईश्वर की अमृत संतान हैं। परिवार बड़ा हो जाने पर विभिन्न कारणों से विभिन्न भूखण्डों में वास करता है, शरीर से तो दूर होते हैं पर मन एवं हृदय से निकट होते हैं। इसलिए हमारे ऋषि कहते हैं, 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' तीनों ही देश-लोक हमारे अपने हैं।

भारत अग्रजन्मा होने से तथा 'सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा' होने से वेद भगवान् ने आदेश दिया 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' सारे संसार को श्रेष्ठ, गुणवान और संस्कृत बनाओ। बड़े भाई का दायित्व है कि उसके केवल स्वयं के सुशिक्षित, सज्जन, संस्कारी बनने से काम नहीं चलेगा। अपनी सज्जनता की रक्षा के लिए भी पास-पड़ोस, दूर सभी को संस्कारित करके सुशिक्षित करना उसका दायित्व है और छोटे भाइयों का कर्तव्य है कि वे अपने गुरुजनों, पूज्यजनों से, गुणी जनों से, बड़ों से अपने कर्तव्य की, आचरण की, चरित्र की शिक्षा प्राप्त करें। इसलिए भगवान् मनु विश्ववासियों को आदेश देते हैं कि अपने-अपने कर्तव्य की शिक्षा भारत से ग्रहण करें। यह पौराणिक नहीं ऐतिहासिक तथ्य है। भारत ने सदा विश्वमंगल की साधना नि:स्वार्थ भाव से की। अपनी श्रेष्ठताओं का यथा—धर्मदर्शन, सभ्यता-संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल का दान बिना किसी देश की स्वाधीनता को छीने, बिना उसके अर्थतंत्र पर डाका डाले, बिना मां-बहनों के शील पर आघात किए, अपने निष्कलंक चरित्र और निर्मल ज्ञान के द्वारा बिना उनका एवं अपना अहित किए किया और विश्ववासियों ने भी भारत से शिक्षा एवं संस्कार ग्रहण कर अपने को कृत-कृत्य, धन्य-धन्य माना।

इसमें हम शास्त्र एवं शस्त्र दोनों की परम्परा को स्वीकारते हैं। शास्त्र के द्वारा हम स्वयं को शिक्षित, संस्कारित करते हैं, अन्यों को शिक्षित व संस्कारित करते हैं, दैवी सम्पदा का अर्जन कर आत्मबोध को, स्वरूप बोध को प्राप्त करते हैं और शस्त्र द्वारा अन्दर के एवं बाह्य शत्रुओं का दमनकर उनको अपने वश में रखते हुए समाज में सुख-शान्ति, अभय का वातावरण प्रदान करते हैं। इस प्रकार शास्त्र द्वारा अन्तर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके हम आत्मलाभ प्राप्त करते हैं और शस्त्र द्वारा देश के अन्दर के एवं बाह्य शत्रुओं का दमनकर समाज में सुख-शान्ति, अभय का साम्राज्य स्थापित करते हैं। जिसके द्वारा समाज में ज्ञान-विज्ञान का, सभ्यता-संस्कृति का, कला-कौशल के विकास का पूरा अवसर मिलता है।

भारतीय संस्कृति में हिंसा-अहिंसा

भारतीय संस्कृति कर्तव्यप्रधान है। कर्तव्यप्रधान होने से त्यागप्रधान है, त्यागप्रधान होने से अहिंसा व शान्तिप्रधान है। पश्चिमी संस्कृति अधिकारप्रधान है। अधिकारप्रधान होने से भोगप्रधान है, भोगप्रधान होने से संघर्ष और हिंसाप्रधान है। जो अपने राजनैतिक वैभव काल में अपने साम्राज्य विस्तार और धर्म विस्तार के नाम पर विश्व पर युद्धों को थोपते रहे हैं, अन्यों की सभ्यता, संस्कृति व धर्म को कुचलते रहे हैं। पर भारत ने तो सदा शान्ति का, धर्म का ही दान दिया है। अहिंसा व प्रेम का ही संदेश दिया है सारे विश्व को।

भारतीय संस्कृति अहिंसा को परम धर्म के रूप में स्वीकारती है। समाज में, देश में, अहिंसा, धर्म, न्याय, अभय, स्वतंत्रता, व्यवस्था सदा कायम रह सके, हमारी शान्ति को कोई भंग न कर सके, इसके लिए दण्ड को, युद्ध को, हिंसा को आवश्यक बुराई के रूप में वेद, रामायण, महाभारत, गीता में स्वीकारा गया है। जब शान्ति का और कोई उपाय शेष न रहे तब अन्तिम-आवश्यक बुराई के रूप में हिंसा को, युद्ध को भारतीय संस्कृति स्वीकारती है। कहा जाता है 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिंता प्रवर्तते।' शास्त्र से रक्षित राष्ट्र में शास्त्रचिंतन एवं समाज में शान्ति, सौख्य, अभय, स्वतंत्रता, व्यवस्था कायम रहती है। भारत राष्ट्र का अनुभव-सिद्ध उद्घोष है—

अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतस् सशरं-धनुः।
इदं क्षात्रं इदं ब्राह्मं शास्त्रादपि शरादपि।।

अर्थात् मेरे आगे चारों वेद है, उनके पीछे शरयुक्त धनुष है। मेरे पास ब्रह्मतेज है और क्षात्रतेज भी है। आसुरी शक्तियों को कभी शास्त्र द्वारा तथा कभी शस्त्र द्वारा निरस्त करते हुए मैं (राष्ट्र) प्रगति पथ पर प्रयाण करता हूं।

स्पष्ट है कि देश में सत्य, न्याय, धर्म, अहिंसा, न्याय, सद्भाव, प्रेम, सौख्य की प्रतिष्ठा बनी रहे इसलिए हिंसा, युद्ध, दण्डनीति को आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार किया गया भारतीय वैदिक परम्परा में।

सत्याग्रह और अनशन वहीं कारगर होते हैं जहां आत्मीयता का क्षेत्र हो और आत्मीयता शेष हो। सत्याग्रह और अनशन का कोई प्रभाव न मुसलमानों पर पड़ा और न अंग्रेजों पर। नहीं तो देश विभाजित नहीं होता। अंग्रेज देश को जितना तोड़ सकते थे, बांट सकते थे, बिखेर सकते थे, उलझा सकते थे, सब करके लाचार होकर गये। कोई प्रेम, अहिंसा से प्रभावित होकर नहीं। गांधीजी के विषय में जो यह कहा जाता है—साबरमती के संत तूने कर दिया कमाल, 'बिना खड्ग और ढाल के, बिना लड़ाई और वीरता के, चमत्कृत होकर सत्ता का हस्तांतरण करा दिया' यह पूर्णतया गलत पाठ पढ़ाया जा रहा है। दस लाख लोगों की बलि चढ़ गयी और एक लाख हिन्दू स्त्रियों का अपहरण और बलात्कार हुआ देश के विभाजन पर और पढ़ाया जा रहा है देश को आजादी अहिंसा से मिली। इससे बड़ा झूठ क्या हो सकता है। और देश विभाजन से यह भी स्पष्ट हो गया कि पाकिस्तान में गैर मुस्लिमों (हिन्दुओं) के लिए कोई स्थान नहीं है। लॉर्ड माउण्टबेटन स्वाधीनता के बाद भी पंडित नेहरू की कृपा से डेढ़ साल तक भारत का गवर्नर जनरल बना रहा। भारत का मित्र बनकर देश को सम्हालने के नाम पर वह जितने समय रहा देश की नींव खोदता रहा और देश को एक गड्ढ़े से दूसरे गड्ढ़े में डालता रहा। और फिर इंग्लैंड में बैठे-बैठे ही पंडित नेहरू को प्रभावित करता रहा। और यही कार्य वर्तमान में सत्ता में बैठी विदेशी मूल की महिला द्वारा हो रहा है। जितना राष्ट्रीय हिन्दू समाज को कुचला जा सकता

है, दबाया जा सकता है, अपमानित किया जा सकता है कर रही है और अराष्ट्रीय मुस्लिम और ईसाई समाजों को जितना संरक्षण, सुविधा दे सकती है, दे रही है। इनके काल में गठित चाहे सच्चर कमेटी हो या चाहे जस्टिस रंगनाथ मिश्र की रिपोर्ट हो या सांप्रदायिक और लक्षित हिंसा निरोधक विधेयक 2011 हो, सबमें हिन्दू समाज को कठघरे में खड़ा किया गया है। सर्वत्र चोर कोतवाल को डांटे वाली स्थिति है। देश के पशुधन को समाप्त प्रायः किया जा रहा है। गोपालक देश के दूध, दही, मक्खन, घी, मिठाई निर्यात के स्थान पर गोमांस निर्यातक देश, जूत्ता निर्यातक देश बनता जा रहा है। जितने भी प्रकार से देश को हानि की जा सकती है, घोटाले हो सकते हैं करवा रही है, कश्मीर वार्ता के नाम पर कश्मीर सौंपने की तैयारी, चीन के निरन्तर अतिक्रमण की अनदेखी आदि-आदि। देश कल नष्ट होता हो तो आज नष्ट हो जाए, अभी नष्ट हो जाए। इस नीति से चल रही है। सारा हिन्दू समाज ईसाइयत-इस्लाम-चीन की झोली में चला जाए इस नीति से चल रही है। स्पष्ट है सत्याग्रह अनशन आदि वहीं सफल होते हैं जहां आत्मीयता का क्षेत्र है और आत्मीयता शेष है।

स्पष्ट है हमने धर्म, न्याय, सत्य की प्रतिष्ठा, स्वराज्य व अस्मिता की रक्षा की कीमत पर युद्ध को अस्वीकारा नहीं। नहीं तो धर्म, न्याय, नैतिकता पर से समाज की आस्था ही उठ जायेगी और सबकी अधर्माचरण की प्रवृत्ति हो जायेगी, सर्वत्र अव्यवस्था फैल जायेगी, और असमय में सृष्टि विनाश को प्राप्त हो जायेगी। इसलिए धर्म, न्याय, नैतिकता की प्रतिष्ठा बनी रहे इसके लिए युद्ध को एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकारा। इसी दृष्टि से भारतीय परम्परा यथा गीता-रामायण आदि धर्मयुद्ध का आह्वान करती है। पर सेमिटिक परम्परा में विशेषकर ईसाइयत एवं इस्लाम में जो जिहाद (धर्मयुद्ध) का आह्वान किया गया है वह अन्यों के—स्वराज्य का, धर्म का, संस्कृति एवं सभ्यता का, ज्ञान-विज्ञान का अपहरण करके उन पर विदेशी, बर्बर सभ्यता, संस्कृति एवं पंथ को थोपकर सदा के लिए अपना उपनिवेश स्थापित करने के लिए, बाजार स्थापित करने के लिए है। अब तक का इतिहास इस बात का साक्षी है। इस प्रकार हिन्दू धर्म के धर्मयुद्ध और ईसाई एवं इस्लाम पंथ के जिहाद, क्रूसेड में मूलभूत अन्तर है। हिन्दू धर्म स्वराज्य, स्वधर्म, न्याय की प्रतिष्ठा के लिए धर्मयुद्ध की आज्ञा देती है। ईसाई व इस्लाम जिहाद (क्रूसेड) के तहत अन्यों पर आतंक थोपकर उनके स्वराज्य, स्वधर्म एवं संस्कृति का अपहरण करके उनको विदेशी परतंत्रता में जकड़ करके उन पर अपना विदेशी बर्बर पैशाचिक पंथ एवं संस्कृति को थोपने के लिए है। स्पष्ट है गीता का धर्मयुद्ध सत्त्व की रक्षा के लिए है, बाइबिल व कुरान का धर्मयुद्ध सत्त्व के अपहरण के लिए है। अतः दोनों की दृष्टि में 'आकाश-पाताल' का अन्तर है।

हमारा धार्मिक आदर्श सर्वधर्म समभाव है। मनुष्य अपनी चेतना को विश्व चेतना से जोड़ सके, अपना सर्वोच्च विकास कर सके उसे पूर्णता तक, आनन्द तक, ईश्वर तक ले जा सके; इसके लिए अनेकों उपासना पद्धतियों, पूजा पद्धतियों, अनेकों देवविग्रहों, अनेकों देवीविग्रहों को स्वीकार किया गया है। मानव अनन्त पथ का यात्री है। सबका स्वभाव, अभिरुचियां भिन्न-भिन्न हैं। सबका शारीरिक, ऐंद्रियक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास का स्तर भिन्न-भिन्न है। अतः सबके लिए एक ही उपासना पद्धति, एक ही विश्वास पद्धति उपयुक्त नहीं हो सकती। नाना प्रकार की उपासना पद्धतियां अपने देश में और सारे विश्व में प्रचलित रही हैं सेमिटिक परम्परा के पूर्व तक। इनमें परस्पर में सामंजस्य था, परस्पर पूरक थी। सहअस्तित्व में जीओ और जीने दो का भाव था। जो सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार मानती थी। धरती को मां मानती थी। प्रकृति पूजक थे, पर्यावरण के साथ सुसंगत थे जिनमें देव विग्रह पुरुष का भी था, स्त्री का भी था। ईसाइयत के पूर्व यूरोप में और इस्लाम के पूर्व अरब में अनेक देव विग्रहों का अस्तित्व था। सारे यूरोप में अनेक देवी-देवताओं के साथ सूर्य पूजा प्रचलित थी। इस्लाम के पूर्व अरब में 360 (तीन सौ साठ) देव-देवी विग्रह थे। सबमें परस्पर में सामंजस्य था।

इसमें समस्या उत्पन्न हुई सेमिटिक परम्परा के उदय से जो एक ही विश्वास, एक ही ग्रंथ, इकलौता ईश्वर-पुत्र, एक ही अन्तिम पैगम्बर को स्वीकारता है। उसके अलावा सब कुफ्र है, काफिर हैं, हिडेन हैं, प्रकृति पूजक हैं, पैगन हैं। इसके अलावा सब झूठे हैं, शैतान से प्रेरित हैं। जिसका एक ही उचित प्रायश्चित्त है इहलोक में निर्मम ढंग से वध। परलोक में अनन्त नरक की आग में जलना ही उसकी नियति है। ये मानव समाज को दो भागों में बांट देते हैं—विश्वासी और अविश्वासी। अविश्वासी को जीने का कोई अधिकार नहीं है। अविश्वासी के जान-माल, स्त्री आदि सब पर विश्वासी का अधिकार है। इस प्रकार सेमिटिक परम्परा अविश्वासियों के प्रति जहर उगलती है, द्वेष फैलाती है। उसका जान-माल छीन लेने के लिए सदा संघर्षरत रहती है। तो क्या ऐसे धर्म या उपासना पद्धति को पंथ की श्रेणी में लिया जा सकता है? जो व्यक्ति की चेतना को शुद्ध करे, परिष्कृत करे, व्यापक बनाए, उसमें सद्‌गुणों का विकास करे, चरित्र का विकास करे, उसे निर्मल बनाए, उसे ही धर्म, मत, पंथ या उपासना पद्धति कहा जा सकता है। पर जो अन्यों के प्रति द्वेष फैलाए, जो चेतना को कलुषित करे, संकुचित करे, तुच्छता में, पशुता में, बर्बरता में, हिंसा में, बलात्कार में, व्यभिचार में, गुण्डई में, असुरता में, पैशाचिकता में ले जाए क्या उसे धर्म, मत, पंथ कहा जा सकता है? जिनकी जीव, जगत्, ईश्वर, नारी की अवधारणाएं विकृतियों को लिए हुए हैं, जिनका ईश्वर ही स्वयं ईर्ष्याविदग्ध है, हिंसापरायण है, जो दूसरे के उपास्यों

को सहन नहीं कर सकता, जिसकी मुंहलगी जातियां हैं, उम्मा है, चर्च है, देश हैं और जो अन्यों पर गजब का कोप बरसाने वाला है तो क्या उसको ईश्वर कहा जा सकता है? जो अपने हित में सारे जगत् का शोषण करने, पर्यावरण को तहस-नहस करने की स्वीकृति देता है, उसे असुरों का, पापियों का, बलात्कारियों का धर्म तो कहा जा सकता है, मानवों या देवों का कथमपि नहीं।

अतः सर्वधर्म समभाव में सेमिटिक परम्परा बाधक है।

रामकृष्ण परमहंस सर्वधर्म समन्वय के सबसे बड़े प्रवक्ता माने जाते हैं। वे ही यह भी कहते हैं हिन्दू धर्म ही शाश्वत धर्म है सनातन काल से है और अनन्त काल तक चलने वाला है, अन्य तो आने-जाने वाले धर्म या पंथ हैं। माईकेल मधुसूदन दत्त, जब ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया तो उन्होंने उससे बात करना, मिलना तक स्वीकार नहीं किया। वे अगर सभी धर्म-पंथ को समान मानते तो ऐसा सम्भव नहीं होता। जब वे इस्लाम की साधना कर रहे थे तो गो मांस खाने की इच्छा होने लगी। यह तो ठीक वही बात है जब व्यक्ति कुसंग में पड़ता है तब उसका मद्यपान, तम्बाकू, जर्दा, गुटका भांग मांसाहार करने यहां तक कि कोठे में जाने की प्रवृत्ति हो जाती है जैसा कि गांधीजी कुसंग में पड़कर इन सबके शिकार हो गये थे। और वही सुसंग में पड़ता है तो जीवन में अच्छी बातें आने लगती है, उसकी जीवनधारा शुद्ध, सात्त्विक, पवित्र, दिव्य, पुण्यमय हो जाती है। जब रावण सीता को हरकर ले गया। पर सीता उसका वश स्वीकार नहीं करती है, तब वह कुम्भकरण को जगाता है और उसे बताता है सीता को मैं भोगना चाहता हूं पर वह मेरा वश स्वीकार नहीं कर रही है। तब कुम्भकरण ने कहा—तब तुम राम का रूप धरकर क्यों नहीं उसके पास जाते हो। तब रावण अपनी विवशता बताता है जैसे ही राम का चिन्तन करता हूं उसका रूप धारण करता हूं तब मन में सात्त्विक भाव आने लगते हैं। प्रत्येक पर नारी में मातृभाव आने लगता है। भोग बुद्धि तिरोहित हो जाती है। इसलिए यह प्रयास नहीं कर सकता। यह है सुसंग का परिणाम, सुधर्म का परिणाम। रामकृष्णदेव कहते हैं सब में भगवान तो है पर तमोगुणी नारायण से दूर रहने को कहते हैं। यह पागल हाथी के दृष्टान्त द्वारा बताया। एक गुरु ने अपने सब शिष्यों को बताया सब में नारायण का वास है अतः सबका आदर करना चाहिए। रास्ते में एक मतवाला हाथी जा रहा था, महावत सबको बचने के लिए कह रहा था, सब शिष्य तो भाग गये, एक शिष्य अड़ा रहा तो हाथी ने इसे सूंड से लपेट कर दूर फेंक दिया। तब गुरु ने कहा तुमने महावत भगवान् और अपने मित्र भगवान् की उपेक्षा क्यों की। तमोगुणी नारायण से बचो। कोई सज्जन सद्प्रयास करता है तो अकारण ही लोग उसकी आलोचना करने लगते हैं। इसे हाथी और कुत्ते के दृष्टान्त से बताया। जब हाथी बाजार में चलता है तो उसके पीछे अनेक कुत्ते भोंकने लगते

हैं, पर हाथी उसकी परवाह नहीं करता। यही बात हिन्दू धर्म के साथ देखते हैं। हिन्दू धर्म ने तो इस्लाम-ईसाइयत सहित सारी दुनिया को धर्म-दर्शन का, सभ्यता-संस्कृति व ज्ञान-विज्ञान का कला-कौशल का दान दिया—निःस्वार्थ भाव से, लोक मंगल की भावना से। उसके बदले में इस्लाम, ईसाइयत, चीन सहित सारी दुनिया भारत को आग-आतंक की, तस्करी दे रहे हैं। मुल्ला, मौलवी, पादरी, माओवादी, हिन्दू धर्म के प्रति, भारत के प्रति आग उगलते रहते हैं, निन्दा करते रहते हैं, पर हिन्दू समाज, हिन्दू धर्म हाथी के समान उनकी परवाह नहीं करता। पर कोई ज्यादा उत्पात करे, प्राणों पर ही पड़ जाए तो अपनी आत्मरक्षा कैसे करें। कैसे उसका प्रतिकार करें यह विषधर सर्प के दृष्टान्त से बताया। जंगल में एक विषधर सर्प था जो सबको डसता था। लोगों ने उस रास्ते से जाना छोड़ दिया था। संयोग से एक संत उसी रास्ते से जा रहे थे, बच्चों ने सावधान किया। पर संत ने कहा, मेरे पास मंत्र है अतः मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। जब सर्प डसने के लिए फुफकार मारते हुए आया तो मंत्र के बल से निस्तेज हो उनके चरणों पर गिर पड़ा। संत ने कहा और कितनी दुर्गति कराओगे, सर्प की योनि मिली है। फिर उन्होंने मंत्र दिया—ले इसका जप कर, इससे तेरी हिंसा वृत्ति शांत हो जायेगी, मन को शांति मिलेगी। उसके स्वभाव परिवर्तन को बच्चों ने लक्ष्य किया। वह अब फुफकारता हुआ आता नहीं है, बच्चे पत्थर फेंकने लगे, पर प्रतिकार नहीं करता। तब एक दिन एक बच्चे ने पूंछ पकड़कर धरती पर खूब पटका और लहूलुहान मरा हुआ जानकर बच्चे छोड़ गये। एक वर्ष पश्चात् वे संत फिर आये, उसकी खोज करने लगे। बच्चों ने कहा वह तो मर गया है। संत ने मन में सोचा, सिद्ध मंत्र था! बिना प्रभु के दर्शन मृत्यु हो नहीं सकती। उसे खोजते हुए आवाज लगाने लगे, तो बिल से निकलकर धीरे-धीरे आया और प्रणाम किया। गुरु के प्रति कृतज्ञता प्रकट की। संत ने पूछा, इतना दुर्बल कैसे हो गया? अब मैं घास-फूस खाकर निर्वाह करता हूं इसलिए दुबला हो गया हूं। संत ने कहा, केवल भोजन बदलने से ऐसी स्थिति नहीं हो सकती। कोई और बात है। तब बच्चों के दुर्व्यवहार की बात याद आयी और उसने सारी बात बतायी। तब संत ने लताड़ा—अरे, तुम मूर्ख हो! अपनी आत्मरक्षा भी नहीं करना जानता। तुझे फुफकारना चाहिए था। जब हम समस्या के विरुद्ध उठकर खड़े हो जाते हैं अनेक समस्याओं का समाधान स्वतः ही हो जाता है। बनारस में स्वामी विवेकानन्दजी के पीछे बन्दर पड़ गये। स्वामीजी भागने लगे। दूर से एक संत की आवाज आयी—भागो मत, खड़े हो जाओ। सामना करो। तब जैसे ही मुट्ठी भींचकर खड़े हुए सारे बन्दर भाग खड़े हुए। अतः हम जब डटकर खड़े हो जाते हैं तो अनेकों समस्या स्वतः सुलझ जाती हैं और जब इससे भी काम नहीं बने तब जिसकी साधना, आराधना से रामकृष्णदेव ने सबकुछ पाया वह मां

दुर्गा, दुर्गा सप्तशती में कहती हैं—मां के चित्त में करुणा है पर समर निष्ठुरता है। 'चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा'।

सब में एक ही ईश्वर का वास है अतः सबके प्रति कृपा आदर का भाव रहे पर वह जिस शरीर का आधार लेकर उदण्डता कर रहा है उस साधन को छीन लेना चाहिए। मां ने यही किया।

अतः सभी धर्म समान हैं की रट नहीं लगानी चाहिए—नहीं तो सत्-असत् में, पाप-पुण्य में, राम-रावण में, मां सीता और शूर्पणखा में, सती नारी और वेश्या में, कृष्ण और कंस में, गांधी और जिन्ना में, चोर और पुलिस में, न्यायाधीश और अपराधी में आक्रांता और उसका प्रत्युत्तर देने वाले आत्मरक्षक में अन्तर करना छोड़ देना चाहिए।

कई सज्जन कहते हैं मुसलमान और ईसाई भी तो ईश्वर को मानने वाले हैं। तब असुर भी ईश्वर को मानने वाले, उनकी आराधना कर उनसे वर प्राप्त कर अत्याचार करते थे तो वे दया नहीं दण्ड के पात्र बने। फिर एक तरफ तो रामकृष्णदेव को अवतार मानते हैं। और, अवतार तो सज्जनों की रक्षा, दुष्टों के दलन के लिए, नाश के लिए ही आते हैं न कि दुष्टों को प्रमाणपत्र देने के लिए कि तुम (सज्जन और दुर्जन, देव और असुर) सभी समान हो। अतः देवी पथ और आसुरी पथ समान नहीं हो सकता। कोई कहे ईसाई-मुसलमान के द्वारा भी कुछ भला कार्य हुआ है। यह बात तो रावण, कंस, दुर्योधन के साथ भी लागू हो सकती है। पर ये सब दण्ड के पात्र बने। भीष्म-द्रोण जो स्वयं दुष्ट नहीं पुण्यात्मा थे, सदाचारी थे पर दुष्ट दुर्योधन का, कौरव पक्ष को उनसे संरक्षण मिल रहा था अतः भगवान् श्रीकृष्ण को उन्हें पहले मरवाना पड़ा। अतः एक तरफ तो रामकृष्णदेव को अवतार मानें, दूसरी तरफ उनका कार्य अवतार के ठीक विपरीत हो यह कैसे सम्भव माना जा सकता है?

मुसलमान बंधु औरंगजेब को आदर्श पुरुष यहां तक कि जिन्दा पीर मानते हैं। औरंगजेब पिता को कैद करके, पानी के लिए तरसा-तरसा कर मारने वाला, अपने तीनों भाइयों की धोखे से हत्या करके गद्दी पर बैठने वाला और अकारण हिन्दू धर्म, समाज, जाति, देश व धर्म पर कहर ढाने वाला—अपनों और परायों सबके साथ दंगा करने वाले को अपना आदर्श पुरुष मानकर न हम अपने व्यक्ति जीवन, न परिवार जीवन, न समाज जीवन व राष्ट्र जीवन और न ही विश्व जीवन का निर्माण कर सकते हैं। इसी प्रकार मुहम्मद गजनवी, मुहम्मद गोरी को आदर्श पुरुष मानकर आदर्श जीवन नहीं अमानुषिक जीवन का ही निर्माण हो सकता है। यही कारण है कि इस्लामिक राज्य के मुस्लिम काल में देख लेवें तो प्रायः सभी अपने पिता व भाइयों की हत्या करके ही गद्दी पर बैठे हैं और विकृत, विलासी का जीवन जीया

है। उनके परिवारों की हालत देख लेवें, मुस्लिम राज्यों की हालत देख लेवें, सब जगह उन्माद का नंगा नृत्य ही दिखाई देगा। शान्ति से न सहवास की स्थिति है, न विकास की स्थिति है, अमर्यादित, विकृत विलास की स्थिति है। ईसाइयों के आदर्श पुरुष कोलम्बस हैं जिसने अमेरीका के मूलनिवासियों पर अमानुषिक अत्याचार कर समूल नष्ट कर दिया। कोलम्बस ने वहां के मूलवासी रेड इंडियनों से पानी मांगा तो उन्होंने दूध से स्वागत किया। उन भोले-भाले वासियों को निर्मम ढंग से नष्ट कर दिया। ईसाइयों के आदर्श पुरुष संत जेवियस हैं जिसने गोवा में हिन्दुओं पर अमानुषिक अत्याचार किया। भारत की वाणी धर्म की वाणी, मर्यादा की वाणी है। इस्लाम सहित ईसाइयत की, छल-कपटाचार, अमर्यादित, अविवेकी भोग की वाणी है, राजनीति की वाणी है। शोषण और बलात्कार की वाणी है? ऐसी स्थिति में हिन्दू धर्म, इस्लाम और ईसाइयत एक कैसे हो सकते हैं। इनको एक ही तराजू में कैसे तोला जा सकता है। अतः इस्लाम-ईसाइयत के साथ हिन्दू धर्म का समभाव नहीं, हिन्दू धर्म का विनाश ही सम्भव है और वही हो रहा है। जब से ये दोनों धारायें भारत में आयी है। रामकृष्णदेव के सर्वधर्म समभाव का प्रभाव यत्किंचित् भी इस्लाम और ईसाई समाज पर नहीं है केवल हिन्दू समाज ही इससे मतिभ्रम का शिकार हो रहा है। यही कारण है इस्लाम और ईसाइयत दोनों हिन्दू समाज को दुनिया के मानचित्र से मिटा देना चाहते हैं और हिन्दू मतिभ्रम का शिकार होकर उन्हें गले लगाने में लगा हुआ है।

ऐसे ही Secular शब्द भारत की नहीं ईसाइयत की देन है। वहीं इसकी आवश्यकता हुई और वहीं यह शब्द अस्तित्व में आया। सारे यूरोप के इतिहास में चर्च और State में, धार्मिक शासन और राज्य शासन में परस्पर स्पर्धा रही, संघर्ष चलता रहा। राज्य शासन की चेष्टा रही कि धर्म शासन उसके अधीन रहे और धर्म शासन राज्य को अपने अधीन रखकर चलाना चाहता था। इसलिए चर्च और सरकार में परस्पर संघर्ष चलते रहते थे और चर्च खुलकर राजनीतिक शक्ति संतुलन, स्पर्धा, संघर्ष, षड्यंत्र, हत्या, रक्तपात, सामूहिक हत्याकाण्ड, अग्नि होम आदि का सहारा लेता था। इन खूनी संघर्षों से उपराम के लिए Secular शब्द अस्तित्व में आया कि राज्य सत्ता और धर्म सत्ता (चर्च) दोनों एक-दूसरे पर दखलंदाजी, हस्तक्षेप नहीं करेंगे और राज्य किसी एक पंथ को नहीं सभी पंथों को समान मान्यता, सम्मान, सुरक्षा और सुविधा देगा। पंथ की भिन्नता के आधार पर राज्य उनसे कोई भेदभाव नहीं करेगा, जैसा कि वह पूर्व में करता आया है। यदि राज्य कैथोलिक मत का है तो उसे जनता पर थोपा जाता था। परस्पर में संघर्ष चलता रहता था। पर अब से राज्य सभी पंथों को समान भाव से पोषण देगा। इसी दृष्टि से Secular शब्द की उत्पत्ति हुई और यही इसका भाव है।

भारत में कभी भी धर्म शासन और राज्य शासन में संघर्ष नहीं हुआ और न ही राज्य ने पंथों के आधार पर कभी भेदभाव किया। हमारे यहां प्रारम्भ से ही सर्वधर्म समभाव का आदर्श रहा है। यह तो सेमिटिक परम्परा की देन रही है कि वे अपने से किंचित् भिन्न मत को सहते नहीं है, न उनके God ही और न उनके अनुयायी। वे उसको नष्ट करवा देते हैं या कर देते हैं। इस्लाम के प्रवेश से पूर्व भारत में इसकी कोई कल्पना भी नहीं थी। इसलिए Secular शब्द की यहां कोई आवश्यकता भी नहीं हुई। इसलिए महारात्रि के गहन अंधकार में Secular शब्द को संविधान में प्रवेश करवाया गया, श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा आपातकाल के समय, जब विरोधी पक्ष के प्राय: सभी नेता जेल के सीखचों में जकड़े हुए थे। फिर Secular शब्द का अर्थ है पंथनिरपेक्षता न कि धर्मनिरपेक्षता। धर्म की कोई अवधारणा पश्चिम में नहीं है। वे पंथ या पूजापद्धति को ही religion कहते हैं। पंथनिरपेक्ष हुआ जा सकता है धर्मनिरपेक्ष नहीं। धर्म का सीधा सरल अर्थ कर्तव्य से है या सृष्टि के जिन नियमों के द्वारा सारी सृष्टि धारित होती है। अत: न कर्तव्य से और न सृष्टि के नियमों से कोई निरपेक्ष हो सकता है। अत: Secular शब्द का अर्थ है पंथनिरपेक्षता और दूसरा अर्थ सर्वपंथ समभाव या समादर है। इसी भाव से Secular शब्द की उत्पत्ति हुई कि राज्य किसी भी एक मत, पंथविशेष का पक्ष न लेकर सभी पंथों को समान महत्त्व और सुविधा देगा। पर अपने देश में पूरे विपरीत अर्थ में Secular शब्द को स्वीकार किया गया है। हमारे यहां Secular का अर्थ हिन्दूधर्मनिरपेक्ष और मुस्लिम-ईसाई के सापेक्ष है। हिन्दू धर्म जो मानव मात्र का धर्म है, जो तर्क से सुसंगत है, विज्ञान, समाज विज्ञान, मनोविज्ञान से सुसंगत है, मानव स्वभाव के अनुकूल, नारी पूजक, पर्यावरण एवं प्रकृति पूजक, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह-परायण, चराचर जगत् को अपने हृदय में स्थान देने वाला मानव धर्म है, देव धर्म है, विश्व धर्म है, सारे विश्व के मनीषियों की दृष्टि में भविष्य की एकमात्र आशा का केन्द्र है, सारे विश्व का आश्रय होने योग्य है।

और मुसलमान-ईसाई, ये दोनों पंथ ही अराष्ट्रीय, अमानवीय, घोर हिंसा-परायण, पर्यावरण विरोधी, प्रकृति के प्रति शत्रुता रखने वाले, नारी लोलुप, अवैज्ञानिक, अतार्किक, समाज मनोविज्ञान एवं मानव स्वभाव के विरोधी आसुरी-पंथ हैं। यह हमारे देश, धर्म, संस्कृति के साथ घोर विडम्बना है। आत्मवंचना की स्थिति है। सारे विश्व में हास्यास्पद की स्थिति है। जिस ईसाई एवं इस्लाम पंथ या मजहब पर धर्मनिरपेक्षता लागू होनी चाहिए वही उससे मुक्त है। और हिन्दू धर्म जिस पर सदियों से इस्लाम और ईसाइयत का आक्रमण होता रहा है और आज भी हो रहा है, उसे रक्षा के लिए राज्य का संरक्षण प्राप्त होना चाहिए वही इससे वंचित

है। अपने देश में राज्य द्वारा इस्लाम एवं ईसाइयत को वैधानिक संरक्षण प्राप्त है और हिन्दू धर्म इससे वंचित है।

संसार भर में वहां के राज्य द्वारा अपने राष्ट्र के मूल बहुसंख्यकों के रिलिजन या मजहब या मत को अधिकृत वैधानिक संरक्षण मिलता है। भारत विश्व का एकमात्र देश है जिसका संविधान यहां के बहुसंख्यक, मूल निवासी हिन्दुओं के धर्म-हिन्दू धर्म को अधिकृत वैधानिक संरक्षण नहीं देता। इस प्रकार हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति के विशेष संरक्षण के राजधर्म का पालन भारत में नहीं किया जा रहा है। इस विषय में प्रबुद्ध जनमत जागृत किया जाना चाहिए और वर्तमान संविधान के भाग 4 अनुच्छेद-38 में एक छोटा सा संशोधन लाया जाना चाहिए कि 'भारत का राज्य भारतीय संस्कृति का संरक्षण करेगा और समाज में भारतीय सांस्कृतिक चेतना के उत्कर्ष के लिए काम करेगा। इस प्रकार राजधर्म का पालन करता हुआ भारतीय राज्य भारत के गौरवशाली इतिहास को वर्तमान और भविष्य में भी चरितार्थ करना अपना धर्म मानेगा।

भारतीय संस्कृति और विज्ञान

जहां विश्व की अन्य संस्कृतियां विज्ञान के सामने नतमस्तक हैं, हतप्रभ और भयभीत हैं। वहां एकमात्र भारतीय संस्कृति आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के लिए चुनौती बनकर ऊंचा मस्तिष्क कर खड़ी है।

एक समय पश्चिम का विज्ञान कह रहा था—यदि ईश्वर की सत्ता है तो उसे अपने अस्तित्व का प्रमाण वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में आकर उसकी परखनली में देना होगा। पर जब से क्वांटम का सिद्धान्त एवं सापेक्षतावाद का सिद्धान्त प्रकाश में आया तब से स्थिति बदल गई। विज्ञान सृष्टि की व्याख्या करने में स्वयं समर्थ है, उसका यह दम्भ दूर हो गया है और वह विनम्र होकर अध्यात्म की भाषा बोलने लगा है।

आज विज्ञान तीन कारणों से भारतीय संस्कृति की ओर, भारतीय दर्शन की ओर झुक रहा है।

न्यूटन के समय, उसे लग रहा था कि विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के द्वारा वह सृष्टि की व्याख्या करने में समर्थ हो सकेगा। पर क्वांटम सिद्धान्त एवं सापेक्षतावाद का सिद्धान्त आने पर स्थिति बदल गई और वह दम्भ दूर हो गया है। एक प्रयोग बहुत हैरानी का है, वह प्रयोग यह है कि जैसे-जैसे हम अणु को तोड़ कर और परमाणुओं को तोड़ कर इलेक्ट्रान्स की दुनिया में पहुंचे हैं, तो वहां जाकर एक नया अनुभव आया है, जो बहुत घबड़ाने वाला है और जिसने विज्ञान की सारी व्यवस्था उलट दी हैं।

वह अनुभव यह है कि अगर इलेक्ट्रान्स को बहुत खुर्दबीन से आब्जर्व किया जाए, निरीक्षण किया जाए, तो जैसा वह अनिरीक्षित अवस्था में व्यवहार करता है, निरीक्षण करने पर उसका व्यवहार बदल जाता है, वह फिर वैसा व्यवहार नहीं करता! कोई उसे नहीं देख रहा है तो वह एक ढंग से गति करता है और खुर्दबीन से देखने पर वह डगमगा जाता है और गति बदल देता है!

अब यह बड़ी हैरानी की बात है कि पदार्थ का अंतिम अणु भी मनुष्य की आंख और आब्जर्वेशन से प्रभावित होता है। ऐसे ही जैसे आप अकेले सड़क पर चले जा रहे हैं। कोई नहीं है सड़क पर। फिर अचानक किसी खिड़की में से कोई झांकता है और आप बदल गए। आप दूसरी तरह से चलने लगे। अभी जिस शान से आप चल रहे थे, वैसे नहीं चल पा रहे हैं। अभी गुनगुना रहे थे, गुनगुनाना बंद हो गया।

अपने बाथरूम में आप स्नान कर रहे हैं। गुनगुना रहे हैं या नाच रहे हैं या आईने के सामने मुंह बना रहे हैं। और अचानक आपको पता चले कि बगल के छेद से कोई झांकता है, आप दूसरे आदमी हो गए।

लेकिन आब्जर्वेशन आदमी में फर्क ला दे, यह समझ में आता है, लेकिन अणु भी, परमाणु भी निरीक्षण से डगमगा जाएं, तो बड़ी हैरानी की बात है। और इस बात की खबर देते हैं कि हम कुछ गलती में हैं। वहां भी प्राण, वहां भी आत्मा। वहां भी देखने से भयभीत होने वाला। देखने से सचेत हो जाने वाला। देखने पर बदलने वाला मौजूद है।

फिर संस्कृत भाषा से जैसे-जैसे पश्चिम का परिचय बढ़ा तब यह जाना कि उन्होंने जो खोजें की हैं वह एकदम से नई नहीं हैं। वह बहुत पहले से ही वैदिक भारतीय परम्परा में सूत्ररूप से, सूक्ष्मरूप से उपलब्ध है। शिव के नटराज रूप का चिन्तन, मनन व ध्यान कर आज के वैज्ञानिक विस्मित व आनन्दित होते हैं। अणु-परमाणु से लेकर अनन्त आकाश में नृत्य कर रही असंख्य आकाशगंगाओं में वे नृत्य-निरत नटराज का दर्शन करते हैं। 10 सितम्बर, 2008 (हिन्दुस्तान टाइम्स) जिनेवा में Big Bang theory के अध्ययन को लेकर किये जा रहे प्रयोग को लेकर धरती के काफी नीचे सुरंग बनायी। उसमें एक विस्फोट करना था। उसमें पूरे विश्व के वैज्ञानिक लगे हैं, जिसमें भारत के 200 वैज्ञानिक हैं। इस संस्था का नाम सी.ई.आर.एन है। इसका जो वैज्ञानिकों का अधिवेशन हुआ था उसकी अध्यक्षता नटराज की दो मीटर की मूर्ति ने की। इसके पूर्व वे धर्म के नाम पर केवल बाइबिल एवं चर्च से ही परिचित थे जिसका सीधा विरोध विज्ञान से था, और जिन्होंने विज्ञान को कुचलने की भरपूर चेष्टा की।

शोपेनहावर ने संस्कृत भाषा के विषय में भविष्यवाणी की थी कि 'मैं विश्वास करता हूं कि जो पन्द्रहवीं शती में ग्रीक साहित्य ने पुनर्जागरण किया था, उससे कम गहरा प्रभेदकारी प्रभाव संस्कृत साहित्य का न होगा।' आज शोपेनहावर की भविष्यवाणी सत्य होती दिखाई दे रही है।

तीसरा कारण है विज्ञान मूल्यनिरपेक्ष अध्ययन है। वह पेनिसिलिन बना रहा है तो दूसरी ओर अणु बम को बनाकर मनुष्य के हाथ में रख रहा है। अब यह मानव के विवेक पर निर्भर करता है कि वह उसका सदुपयोग करता है या दुरुपयोग। विज्ञान अणु के स्वभाव को बदल सकता है पर मानव मन का निर्माण नहीं कर सकता। बिना मानव मन के निर्माण हुए उसका दुरुपयोग ही ज्यादा होता है जैसा कि आज हो रहा है। वह नैतिक मार्गदर्शन चाहता है जो उसे बाइबिल से उपलब्ध नहीं हो सकता। बाइबिल से पिण्ड छुड़ाकर ही आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की जय-यात्रा सम्भव हो सकी है। वह भारतीय दर्शन से ही मार्गदर्शन की अपेक्षा रखता है जो पूर्व में भी देता आया है और भविष्य में भी दे सकता है।

तभी तो प्रथम अणु विस्फोट के समय ओपेनहाइमर को भगवद्गीता का श्लोक याद आता है। विख्यात भौतिकशास्त्री एवं वैज्ञानिक श्रोडिंजर एवं एडिंगटन अपनी अनेक पुस्तकों में सांख्य, वेदान्त एवं योग दर्शन का हवाला देते हैं। वर्तमान समय में केपरॉ अपनी अनेक प्रसिद्ध पुस्तकों में विज्ञान के निष्कर्षों के साथ वेदान्त का साम्य दर्शाते हुए योग दर्शन, वेदान्त की अनुशंसा करते हैं।

भारतीय संस्कृति की अजेयता का रहस्य

विश्व की अन्य प्राचीन संस्कृतियां छोटे-छोटे आघातों से सदा के लिए विलुप्त हो गईं क्योंकि भौतिकता पर आधारित होने से नश्वर सिद्ध हुईं। पर भारतीय संस्कृति आत्मा की अमरता पर आधारित होने से अविनश्वर सिद्ध हुई है, छोटे-बड़े सभी आघातों को झेलकर अविचल खड़ी है।

दूसरा कारण, विश्व के अन्य सभी देशों में राज्य सर्वोपरि एवं सर्वस्व रहे हैं। वहां जनता की जीवन से मृत्युपर्यन्त तक की सारी व्यवस्था राज्य करता था और राज्य के पराधीन होते ही विजेताओं की जीवन प्रणाली को स्वीकार कर लिया जाता था क्योंकि वहां राज्य केन्द्र में था।

पर भारत में राज्य कभी केन्द्र में नहीं था। राष्ट्र जीवन के संचालन की अनेक संस्थाओं में वह एक संस्थाविशेष थी। भारत में परिवार एक संस्था है, विवाह एक संस्था है, ग्राम पंचायत एक संस्था है, गुरुकुल एक संस्था, आर्थिक संघ एक संस्था है। वैसे ही राज्य भी एक संस्था मात्र थी। जिसका काम राज्य की आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा, राज्य में कानून और व्यवस्था Law and Order बनाए रखना, इतना ही दायित्व राज्य का था।

इसलिए हमारे राज्य जब पराधीन हुए तब भी हमारी परिवार व्यवस्था, आर्थिक संघ, गुरुकुल, आश्रम व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, जाति व्यवस्था अक्षुण्ण रही। फलतः राज्य भले ही पराधीन हुआ हो, राष्ट्र जीवन अखण्ड चलता रहा।

भारतीय संस्कृति की सफलता का रहस्य

मानवीय चेतना के तीन पहलू हैं—Knowing, Feeling, Willing ज्ञान-शक्ति, इच्छाशक्ति और, क्रियाशक्ति। ज्ञानात्मक, रागात्मक व संकल्पात्मक। इसके सम्पादन के लिए तीन अंग या अवयव हैं—Hand, Heart, Head तीनों में यथायोग्य समन्वय होना चाहिए। बिना बल के (Muscle के) ज्ञान और भक्ति की रक्षा नहीं कर सकेंगे। आपके सामने आपकी मां-बहन की इज्जत लूट लेंगे। आपके ग्रंथों की होली जला देंगे। ब्रह्मज्ञानी गुरुओं को फांसी पर लटका देंगे। अतः हमारे आदर्श चाहे जितने महान् क्यों न हों, जब तक उसके पीछे शक्ति न खड़ी हो, संसार उसको न सुनता है और न उसे सम्मान देता है।

शक्ति के साथ-साथ संघबल भी आवश्यक है। व्यक्ति रूप से कितने भी शक्तिशाली हो, संघबल आवश्यक है। **संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।** श्रुति माता की आज्ञा है हम सब एक साथ चले, एक साथ बोले एक मन वाले होवें। 'संघे शक्ति कलियुगे' भागवत का वचन है और कलियुग का धर्म है। अतः अपने-अपने घरों में हम व्यक्तिगत उपासना करते हैं पर मन्दिरों में सामूहिक उपासना होती थी। इसलिए आप दक्षिण भारत में जायेंगे तो विशाल-विशाल मन्दिर मिलेंगे जो संघबल (संगठन) का केन्द्र था। उत्तर भारत में तो इस्लामिक आक्रमण के कारण बड़े-बड़े मन्दिर टूटे गये, तब सनातन हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए छोटे-छोटे मन्दिर बने। दक्षिण भारत इस्लामिक आक्रमण से बचा रहा, अतः वहां अभी भी विशाल मन्दिर सुरक्षित है जिन्हें राजाओं की सात-सात पीढ़ियों ने मिलकर निर्माण करवाया था। हमारा कुम्भ मेला, उत्सव आदि संघबल के आधार है। तभी तो लोकमान्य तिलकजी ने गणेश उत्सव, शिवाजी उत्सव महाराष्ट्र में प्रारम्भ किया था। अतः शक्ति के साथ-साथ संघबल भी अनिवार्य है। इसके बिना हम अपने अस्तित्व एवं आदर्श की न रक्षा कर सकते है और न ही प्रसार।

फिर सृष्टि में प्रारम्भ से ही दैवी और आसुरी दो प्रकार के प्राणियों की सृष्टि रही है, 'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।' दैवी प्रकृति के लोगों पर ही प्रेम और विवेक का शासन कारगर होता है। आसुरी प्रकृति के लोग जिनका मस्तिष्क विकृत, हृदय शुष्क वे तो डण्डे की भाषा ही समझते है, शक्ति की भाषा ही समझते हैं। कर्तव्य का निर्णय एकांगी नहीं होता। प्रतिपक्ष के स्वभाव के अनुरूप होता है। 'शठये शाठये समाचरेत' उपनिषद वचन है। फिर क्षमा उसी भुजंग को शोभती है जिसके पास गरल हो। पर जो दन्तहीन, विषहीन हो उसे नहीं।

अतः हमारे ऋषि कोरे आदर्शवादी नहीं वरन् बड़े ही यथार्थवादी एवं व्यावहारिक थे। जहां वे शान्तिकामी मोक्षकामी थे, वहां वे मन्यु के उपासक भी थे। जहां वेद में शान्ति के सैकड़ों मंत्र गुंजायमान है, वहां (क्रोध) मन्यु के, शत्रु विनाश के, दुष्टदलन के भी सैकड़ों मंत्र हैं। तभी भारतीय देवी-देवता एक हाथ से भक्तों को अभय, शान्ति व ज्ञान दे रहे हैं तो दूसरे हाथ में शस्त्र भी धारण किए हुए हैं दुष्टों के दलन-दमन के लिए। अत: वैदिक संस्कृति में—

ब्रह्म तेज और क्षात्र तेज का समन्वय था।
शील और शक्ति का समन्वय था।
ज्ञान और कर्म का समन्वय था।
आदर्श और व्यवहार में समन्वय था।
सिद्धान्त और क्रियान्वयन में समन्वय था।
अर्थशक्ति और श्रमशक्ति का समुचित मान था।
संघ बल का उचित मान था।
देवभक्ति एवं देशभक्ति की एक अखण्ड-अभिन्न वस्तु है,
जो वेद से लेकर विवेकानन्द साहित्य तक में गुंजायमान है।
इस प्रकार प्राचीन भारत ज्ञान की दृष्टि से जगद्गुरु,
वैभव की दृष्टि से सोने की चिड़िया,
सामरिक दृष्टि से अजेय,
संगठन की दृष्टि से अभेद्य था।

लौकिक अभ्युदय पारमार्थिक निःश्रेयस से सम्पन्न था। समाज जीवन अनुशासित एवं लयबद्ध था। तभी अश्वपति घोषणा कर पाते हैं कि 'मेरे राज्य में सभी संस्कारी हैं और श्रेष्ठ जीवनमूल्यों का पालन करने वाले हैं। मेरे राज्य में कोई भी दुराचारी एवं चोर नहीं है।' प्राचीन भारत, वेदोक्त भारत अमर और शाश्वत भारत है। जिसे सारा विश्व सम्मान व आशा की दृष्टि से देखता है।

हजारों-लाखों वर्षों के झंझावातों के उपरान्त भी इस संस्कृति की परिपूर्णता, वैज्ञानिकता, मनोवैज्ञानिकता, सामाजिकता, नैतिकता और आध्यात्मिकता आदि को कोई भी कलम का धनी चुनौती नहीं दे सका और तलवार का धनी नष्ट नहीं कर सका। इसी मृत्युंजयी संस्कृति के कारण ही आज तक भारत अमर बना हुआ है।

हमने किसी पर आघात नहीं किया, पर किसी ने हम पर आघात किया तो उसको बख्शा भी नहीं है। चाहे वह परदेशी हो या स्वदेशी हो। जो असुर प्रकृति के हैं, उन असुरों से व्यापक लोकहित में सहयोग तो लिया पर उन्हें पोषण नहीं दिया,

संरक्षण नहीं दिया, उनको सदैव अपने वश में रखा। तभी हम देखते हैं समुद्रमंथन के समय असुरों को अमृतपान से वंचित रखा। छल से राहु-केतु ने अमृत पान कर लिया तो तुरन्त उसका शिरोच्छेद कर दिया।

जब एक परदेशी रावण ने हमारी यज्ञसंस्कृति पर, हमारे नारीसम्मान पर आघात किया तो भगवान् राम ने उसे कुल-कुटुम्ब सहित जड़ से उखाड़कर फेंक दिया। **'इक लख पूत सवा लख नाती, तिस रावण को दीया न बाती।'**

जब इन्द्रपुत्र जयन्त ने असुरता दिखलाई तो भगवान् ने उसे उचित दण्ड दिया। ब्रह्मा, विष्णु, महेश किसी ने भी यहां तक कि उसके पिता इन्द्र ने भी संरक्षण नहीं दिया।

और स्वदेशी अपने ही भाई दुर्योधन ने धर्म पर, मर्यादा पर, अपनी भाभी के सम्मान पर आघात किया तो उसे भी वंश समेत नष्ट कर दिया। अपना ही भाई, अपना ही परिजन जानकर अर्जुन जब डिगने लगा तो भगवान् ने तुरत उसे उपदेश की जोरदार डांट पिलाकर अपने कर्तव्यपथ पर स्थित कर दिया।

यादव कुल के बल पर भगवान् कृष्ण ने 'विनाशाय च दुष्कृताम्' कार्य को सम्पन्न किया, पर जब वे ही असुर भावापन्न हुए तो भगवान् ने उन्हें भी नहीं बख्शा।

सुन्दरलालजी 'भारत में अंग्रेजी साम्राज्य' पुस्तक में कहते हैं—सिकन्दर के पूर्व भारत पर दो ही आक्रमण हुए। पहले आक्रमण में कोई भी जीवित नहीं बच सका। दूसरे आक्रमण में केवल सात सैनिक ही अपनी हार की गाथा सुनाने अपने देश लौट सके।

सिकन्दर को भारत के द्वार से ही लौटना पड़ा। सिकन्दर के आक्रमण के समय हम देखते हैं कि पूरा ब्राह्मण समाज सिकन्दर के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ और क्षत्रिय राजाओं को अपने कर्तव्यपथ पर आरूढ़ किया। इसलिए सिकन्दर का रोष ब्राह्मणों पर कहर बनकर टूटा और उनका शिरोच्छेद किया। ब्राह्मणों की एक ही सीख थी स्वाभिमान से जीओ और स्वाभिमान से साथ मृत्यु स्वीकारो। यही स्वतंत्रता की कीमत है। उनके प्रबल प्रतिरोध का सामना सिकन्दर नहीं कर पाया और उसे भारत के द्वार से लौटना पड़ा। पुनः सेल्यूकश ने भारत पर आक्रमण का दुःसाहस किया तो चन्द्रगुप्त को अपनी बेटी ब्याहने के साथ चार प्रान्त दहेज में देने पड़े। शक-हूण, कुषाणों को बहुत जल्द ही देश से निष्कासित कर दिया और जो शेष बचे वे हमारे द्वारा पचा लिये गए। उनका अलग से कोई अस्तित्व शेष नहीं बचा।

काल का प्रवाह सदा एक-सा नहीं रहता। उसमें उत्थान-पतन के दौर भी आते हैं जिसमें हम श्रेष्ठ वस्तुओं, परम्पराओं के रहते हुए भी किंकर्तव्यविमूढता, किंवा जड़ता में चले जाते हैं। वेद हमारे आधार हैं जिन पर हमारी संस्कृति टिकी हुई है,

उसको लेकर भी जड़ता में चले गए। उससे उबारने के लिए भगवान् बुद्ध आते हैं। व्यर्थ के दार्शनिक वाद-विवादों से हटाकर समाज में व्यापक नैतिक जागरण का आन्दोलन चलाते हैं। और बौद्ध धर्म अपने मातृधर्म वेद से जब तक पोषण पाता रहा तब तक देश एवं विदेश में हिन्दू धर्म एवं बौद्ध धर्म साथ-साथ बढ़ते रहे। पर कालान्तर में काल के प्रवाह से बौद्धों में विकृति आ गयी। वे अपने मातृधर्म वेद से ईर्ष्या करने लगे और वैदिकों को पराजित करने के लिए राष्ट्रद्रोह का आश्रय लेने लगे।

तब उससे उबारने के लिए आद्यशंकराचार्य का आविर्भाव होता है। उन्होंने बुद्ध को तो भगवान् विष्णु का करुणावतार घोषित किया पर बौद्धों को स्वीकारा नहीं। उन्हें पुनः अपने मातृधर्म में ले लिया। विश्व के विद्वानों को आश्चर्य होता है कि अहिंसा के लिए, बौद्ध दर्शन के लिए सबसे उपयुक्त भारतभूमि में ही बौद्ध नाम-शेष हो गए और विश्व में बढ़ते रहे।

साक्षात् प्रेम और करुणा के अवतार चैतन्य महाप्रभु को काजी के फरमान 'नगर संकीर्तन निषिद्ध है', के विरुद्ध रात्रि में जलती मशाल लेकर 'मार काजी, काट काजी' के उद्घोष के साथ उसका घेराव करना पड़ा। जगाई-मधाई के विरुद्ध सुदर्शन चक्र का आह्वान करना पड़ा। तब वे क्षमायाचना के साथ शमित हुए।

इस प्रकार अपने देश में अपने मातृधर्म से द्रोह को, राष्ट्र से द्रोह को कभी प्रश्रय, संरक्षण नहीं दिया गया। धर्म या पंथ के नाम पर राष्ट्रद्रोह को स्वीकार नहीं किया चाहे वह परदेशी रावण हो या स्वदेशी दुर्योधन हो, बौद्ध मतावलंबी हों या पौराणिक पात्र इन्द्रपुत्र जयन्त हो।

भारतीय संस्कृति में अवरोध

विगत हजार-बारह सौ वर्षों से स्थिति बदल गई—तो इस संदर्भ में यहां विचार कर लेना चाहिए कि विकास सीधी रेखा में सदैव नहीं चलता। वह चक्राकार चलता है। उत्थान-पतन के दौर के द्वारा हम विकास को प्राप्त होते हैं। चाहे वह व्यक्तिगत जीवन का या पारिवारिक जीवन का अथवा सामाजिक जीवन का या राष्ट्रीय जीवन का प्रसंग हो। पृथ्वीराज के समय से हम धर्माभास के शिकार हो गए। संघबल की, शस्त्रबल की उपेक्षा होने लगी। देवभक्ति और देशभक्ति एक, अखण्ड-अभिन्न न रहकर पृथक्-पृथक् वस्तुएं बन गईं क्योंकि देवभक्त तो हैं पर देश के प्रति गद्दारी भी कर रहे हैं। जयचंद, मानसिंह, जयसिंह आदि।

भारतीय वैदिक शास्त्र की परम्परा कहती है—यदि स्वयं का विकास करना है तो स्वयं से त्रुटि होने पर आत्मदण्ड की भावना होनी चाहिए। तभी आप पूर्णता की ओर बढ़ सकेंगे। मित्रों या अन्य रिश्तेदार आदि से त्रुटि होने पर उनके प्रति सहानुभूति, विश्वास, प्रेम व क्षमा की दृष्टि हो। उसको सुधरने का अवसर दिया

जाना चाहिए। पर अपने देश, धर्म, संस्कृति के शत्रुओं के द्वारा त्रुटि होने पर उनके प्रति सावधान एवं कठोर दण्ड की दृष्टि होनी चाहिए। अन्यथा वह आपका और आपके साथ-साथ देश, धर्म, संस्कृति का सर्वनाश कर देगा।

पृथ्वीराज चौहान का 'विनाशाय च दुष्कृताम्' को भुलाकर मुहम्मद गोरी को 17-17 बार क्षमा करना सद्गुण नहीं था। वीर सावरकर के शब्दों में सद्गुणविकृति का परिचय दिया। जिसने न केवल स्वयं के लिए वरन् देश के लिए पराधीनता का द्वार खोल दिया। जो उदारता एवं सद्गुण विवेक के सांचे में, वैदिक सांचे में ढली न हो वह पशुता और पराधीनता में ले जाती है। शत्रु को आपने पशु बनने का अवसर दिया और स्वयं के लिए पराधीनता के द्वार खोल दिए तो यह उदारता, क्षमा व प्रेम, अहिंसा आदि आध्यात्मिक सद्गुण न रहकर सद्गुणविकृति बन जाते हैं। वह सद्गुण आपको ऊपर उठाने वाला न होकर नीचे गिराने वाला बन जाता हो। कुछ लोगों ने आध्यात्मिक सद्गुणों को ही हमारी पराजय का कारण मान लिया। पर यह सोचने का गलत ढंग है। स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, संतोष, शम, दम, तप, क्षमा, मानवीयता आदि हमारे आध्यात्मिक सद्गुण हैं। अपने घर को सजा-संवार कर रखना अच्छा गुण है। उसमें सुन्दर पुष्पवाटिका लगाना अच्छा गुण है। शत्रु अपनी पुष्प वाटिका को उजाड़ देगा, आक्रमण करेगा अतः पुष्पवाटिका ही न लगाएं यह मूर्खता है। हमारी मां-बहनों के सुन्दर चेहरों को गुण्डों के भय से उसके चेहरे पर तेजाब डालकर उसकी सुन्दरता को नष्ट नहीं कर देवें, सुन्दरता उसका गुण है। अध्यात्म हमारा गुण है। जैसे पुष्पवाटिका की रक्षा के लिए कंटीली झाड़ियां लगाने की आवश्यकता है जिससे पशु या नरपशु उजाड़ न सकें, उसे चर न सकें। हमने यही भूल की कि आध्यात्मिक सद्गुण का संवर्धन तो किया पर उसकी रक्षा की व्यवस्था नहीं की। कंटीली झाड़ियां नहीं लगाई। फिर स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—यथार्थ को, व्यावहारिकता को भूल गए कि कहां क्षमा, दया आदि का प्रयोग करना चाहिए और कहां दण्ड का, क्रोध का प्रयोग करना चाहिए, कहां अतिथिधर्म का पालन करना चाहिए और कहां दण्ड का? इसे भुला दिया। मुहम्मद गजनवी सोमनाथ मन्दिर को लूटकर वापस जाने के उपक्रम में राजस्थान की मरुभूमि में भटककर अन्न-जल के अभाव में अपना प्राण छोड़ रहा था तो ग्रामवासियों ने अपना विचित्र अतिथिधर्म निभाकर उसके अन्न जल की व्यवस्थाकर उन्हें सुरक्षित निकलने का मार्ग बता दिया। जयचन्द ने 'वयं पंचाधिकशतं' के विरुद्ध मुहम्मद गोरी का साथ देकर युधिष्ठिर महाराज के मंतव्य को भुला दिया। युधिष्ठिर महाराज कहते हैं भाइयों में आपस में लाग-डांट रहती है। इस समय कौरव एक सौ हैं और हम पांच। किन्तु किसी तीसरी शक्ति या विदेशी शत्रु को इसका लाभ नहीं लेने देंगे, तब हम 105 हैं। वे हमारे घर पर, देश पर आक्रमण करें, इसको हम नहीं

सहेंगे। भीम और अर्जुन को आदेश दिया—तुरत जाओ और दुर्योधन को गंधर्वों से मुक्त कराओ। ऐसे ही सम्राट अशोक का व्यक्तिगत रूप से संन्यास या भिक्षुपद स्वीकारना श्रेयप्रद होता, पर राजा कि रूप में इसे स्वीकारना और सम्राट पद पर बने रहना गलत था। फिर सेनाओं में अहिंसा का प्रचार करना और भी गलत था। इन्हीं त्रुटियों ने विदेशी आक्रांताओं को देश पर आक्रमण के लिए प्रोत्साहित किया? और देश देशी-विदेशी शत्रुओं का चारागाह बना तथा देश में अराजक स्थिति बनी।

अतः सद्गुणविकृति और गद्दारी, धर्माभास यही हमारी पराधीनता के कारण रहे हैं। हमने अपने भोलेपन के कारण इस्लाम को धर्म के नाम पर तीर्थों में स्थान दे दिया। जिस समय बाबर पानीपत के युद्ध में इब्राहीम लोदी को मारकर बादशाह बना, उस समय श्रीरामजन्मभूमि देवालय की प्रधान पीठ पर महात्मा श्यामानन्दजी महाराज आसीन थे। उनके मन में हिन्दू-मुसलमान का कोई भेदभाव था नहीं, उनकी सरलता का लाभ उठाकर मुगलों का एक गुप्तचर कजल अब्बास उनका शिष्य बनकर रहने लगा। अपनी पैंठ जमाकर अपने दूसरे साथी को भी बुला लिया और वह भी जलालशाह सूफी फकीर के नाम से वहीं आ बैठा और षड्यंत्रों का जाल शुरू हुआ। इन दोनों ने बाबर को श्रीराम जन्मभूमि विध्वंस के लिए उकसाया और उसकी अन्तिम परिणति श्रीराम जन्मभूमि के विध्वंस के रूप में हुई बाबर द्वारा नियुक्त सेनापति मीर बाकी के द्वारा। ऐसी ही कथा सोमनाथ के साथ है। शेखसादी ने अपनी पुस्तक 'बोस्तु' में लिखा है कि सोमनाथ में जाकर वह कुछ दिन के लिए हिन्दू बनकर वहां रहा। वह लिखता है कि ऐसे कितने ही मुसलमान फकीर थे जो हिन्दू बनकर सोमनाथ मन्दिर में रह रहे थे और वहां की सूचनाओं को वे काबूल और बगदाद भेजते थे और समय आने पर सोमनाथ को लुटवाने में सहायता की। इस प्रकार हम धर्माभास के शिकार बने और यही स्थिति आज भी बनी हुई है। इसलिए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—पिछले हजार वर्षों से हमने भावुकतापूर्ण मृदु इतिहास की रचना की जिसे निचोड़ा जाए तो केवल आंसू टपकेंगे, दुःख ही होगा।

पारसी समाज को भारत में प्रवेश देते समय विवेक का परिचय दिया। हम सजग थे जबकि वे हमारे ही अंशज-वंशज थे। उन्होंने यहां रहने की अनुमति चाही तो राजा ने दूध का गिलास भेजा। तो पारसी समाज ने उसमें चीनी डालकर संदेश दिया कि हम दूध के साथ घुल-मिलकर रहेंगे। और आज भी पारसी समाज में विवाह के अवसर पर पिता-पुत्र से प्रतिज्ञा करवाता है—हमने वचन दिया है कि हम हिन्दू समाज के साथ घुल-मिलकर रहेंगे, दूध में चीनी की तरह। और आज तक उसका वे निर्वाह करते आये हैं और उन्हें कभी भी अपनी पहचान का या अन्य संकट खड़ा नहीं हुआ। पर इस्लाम व ईसाइयत को प्रवेश देते समय विवेक का परिचय नहीं दिया। दूसरे परिवार में बेटी देते समय, पार्टनरशिप में व्यवसाय

करते समय कितने सजग रहते हैं व्यक्तिगत स्तर पर। पर राष्ट्रीय संदर्भ में इस्लाम एवं ईसाइयत के संदर्भ में विचार ही नहीं किया। ये पंथ भी हैं या नहीं। इनका स्वयं के संदर्भ में और विश्वसंदर्भ में विचार क्या है, इतिहास क्या है, चरित्र क्या है? निरन्तर हजार वर्षों से आक्रमण करते चले आए पर फिर भी इनकी प्रकृति को न पहले और न आज समझने का ही प्रयास किया। और हम उनसे हमेशा धर्मयुद्ध करते रहे और ये हमसे कपट-युद्ध। वे धोखा देते रहे, सन्धियां व वचन तोड़ते रहे, हम अपनी सेना में उनको पालते रहे और वे ऐन मौके पर धोखा देते रहे। 712 ई. से भारत पर निरन्तर आक्रमण कर सन् 1947 में दुनिया का सबसे बड़ा इस्लामिक राष्ट्र पाकिस्तान बना लिया और नारे लगाए—हंस के लिया है पाकिस्तान, लड़कर लेंगे हिन्दुस्तान। और आज भारतविभाजन जैसी स्थिति पुनः निर्माण कर दी है। ऐसी ही स्थिति चर्च व पादरियों से प्रेरित ईसाइयों ने भी निर्माण कर दी है। वे भी निरन्तर भारत को घेरते जा रहे हैं। ऐसे ही चीन जो भारत को गुरु मानकर वंदना करता था, वहां कम्यूनिस्ट शासन के स्थापित होने के पश्चात् उसकी भी प्रवृत्ति बदल गयी और वह शत्रुराष्ट्र के रूप में परिणत हो गया है और अपने देश से हिन्दुत्व के चिह्नों को मिटा दिया। ये तीनों धाराएं (ईसाई-इस्लाम और कम्यूनिस्ट) कृतघ्नता की धाराएं हैं जो सारे विश्व में परस्पर लड़ रही हैं पर भारत में तीनों ने समझौता कर देश को बांट रखा है और भारत को खण्ड-विखण्ड कर देना चाहती हैं।

अंग्रेजों के पूर्व के आक्रान्ता हमारे मन में, हमारे घर में प्रवेश नहीं कर पाए। वे अपनी श्रेष्ठता स्थापित नहीं कर पाए। वे हमारे लिए म्लेच्छ ही बने रहे। पर अंग्रेज अपनी कूटनीति के द्वारा हमारे मन में, हमारी बुद्धि में छा गए। अपनी श्रेष्ठता की छाप हम पर अंकित कर दी। वे हमारे आदर्श पुरुष बनकर हमारे मन में, हमारे घर में, हमारी वेश-भूषा, खान-पान आदि सबमें प्रवेश कर गए।

पर स्वाधीनता के बाद स्थिति बदलनी चाहिए थी। गांधीजी ने अंग्रेजों के मानसपुत्र पंडित नेहरू को अपना उत्तराधिकारी चुनकर स्वयं अपने तथा हमारे सांस्कृतिक पुरुषों, स्वतंत्रता सेनानियों आदि सबके कार्यों पर पानी फेर दिया। नेहरूजी कम से कम Accidental हिन्दू तो थे। अब उनकी वर्तमान वंशज सोनियाजी में दूर-दूर से भी हिन्दुत्व का कोई रिश्ता नहीं रहा है। मानो बीज नाश हो गया, ऐसा लगता है।

संविधान में भी उलटी गंगा बहाई गई। जिनके कारण देश हजार वर्ष से पददलित रहा, पराधीन रहा, देश विभाजित हुआ; उसमें से कोई देश को इस्लाम की झोली में तो कोई ईसा की झोली में डालना चाहता है। जो नागरिक बनने का अधिकारी नहीं है, दण्ड के पात्र हैं उन्हें ही विशेष सुविधा, संरक्षण दिया। किन्तु

जो इस देश का पुत्र समाज है जिसके कारण आज भी देश हिन्दुस्तान है, भारत है वे (हिन्दू) अपने ही देश में 2 नं. के, 3 नं. के, 4 नं. के नागरिक बन गए हैं।

पृथ्वीराज के समय तो हम केवल धर्माभास के शिकार थे पर अपनी संस्कृति, अपनी मूल परम्परा से जुड़े हुए थे। पर आज न केवल धर्माभास के शिकार हैं वरन् अपनी मूल परम्परा से, संस्कृति से भी कट गए हैं। अतः मतिभ्रम के शिकार हैं। हम अपनी सांस्कृतिक विरासत को छोड़ रहे हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में गतिरोध उत्पन्न हो गया है और आज हिन्दू बलिदान देना, मर-मिटना भूल गया है। जो जाति मरना भूल जाती है वह अपने आदर्श और अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकती। आज हिन्दू व्यक्ति और परिवार के नाते जी रहा है राष्ट्र के नाते नहीं। किन्तु जिसका राष्ट्र सुरक्षित नहीं उसका पेट और परिवार सभी कुछ छिन जाता है और वह रोम, मिस्र, बेबीलोन की कहानी को दोहराता है। अतः अगर हम स्वाभिमान के साथ राष्ट्र के रूप में जीवित रहना चाहते हैं तो हमें अपने प्राणों का मोह छोड़कर प्राण विसर्जन के लिए तत्पर रहना होगा। सुभाष बोस के शब्दों में, 'तुम मुझे खून दो मैं तूझे आजादी दूंगा' इस भाव को अपने जीवन में लाना होगा। 1200 वर्षों से अवरुद्ध 'विनाशाय च दुष्कृताम्' कार्य को हाथ में लेना होगा। वीरता का खून देना होगा, नहीं तो कायरता का रक्त भी देंगे और पराधीनता को भी भोगेंगे जैसा कि मुगल काल में, ब्रिटिश काल में उनकी सेना बनकर अपना रक्त देकर अपनी पराधीनता को स्थिर किया। अतः भगवान् राम, कृष्ण व आद्यशंकराचार्य की दृष्टि को पुनः अपनाना होगा। तब फिर आपकी ओर बुरी दृष्टि से नजर डालने की हिम्मत कोई कल्पना में, स्वप्न में नहीं कर सकेगा जैसा कि हम प्राचीन भारत में पाते हैं।

सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में हिन्दुओं में, जीने की इच्छा दृढ़ नहीं है। हिन्दू लोग जीवन के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं। वे लोग असंदिग्ध रूप से इहलोक की अपेक्षा परलोक में अधिक विश्वास करते हैं। उनमें जीवन की इच्छा का अभाव है और इसी कारण उसमें साहस की भावना भी नहीं है।' फ्रांस की क्रान्ति के रूप में डाल्टन का नारा था—'साहस करो, अब भी साहस करो, सदा ही साहस करो।'

यदि हिन्दू भारत जीवित रहना चाहता है तो इसे यह शूरता और आक्रामकता का संदेश ग्रहण करना होगा। वीरतापूर्ण जीवन का यह तो पुरातन वैदिक संदेश ही नये आवरण में है। 'वीर भोग्या वसुन्धरा' केवल वीर और साहसी ही पृथ्वी का उपभोग करते हैं। आक्रमणशीलता जीवन है, इसका अभाव मृत्यु है।

हिन्दुओं का दृष्टिकोण प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में 'जाने दो भाई' की वृत्ति का है, मानो इस जीवन का उनके लिए कोई अर्थ नहीं है। इस वृत्ति का त्याग करना होगा।

डॉ. अबुल कलाम ने अपनी पुस्तक इण्डिया मिशन 2020 में हमारी पांच सभ्यतागत कमजोरी को गिनाया है—1. अत्यधिक सहनशीलता और अल्प अनुशासन। हम सहनशीलता पर गर्व करते हैं। अत्यधिक सहनशीलता कोई सद्गुण नहीं है इतिहास ने बार-बार हमें सिखाया है। 2. प्रतिकार प्रतिशोध के भाव का अभाव। हम प्रतिशोध ले नहीं सकते। ईसा-मसीह ने ईसाइयों को कहा कि अगर कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो। परन्तु ईसाई सभ्यता ने ऐसा कभी नहीं किया। हमारी पूरी सभ्यता में ऐसा किसी ने नहीं कहा, न किसी भगवान् ने, न किसी सद्ग्रंथ ने कि 'अगर कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो' परन्तु हम हमेशा ऐसा ही करते हैं, हममें प्रतिशोध लेने की भावना नहीं है यह दूसरी सभ्यतागत न्यूनता है। 3. अतिथि देवोभवः—विदेशियों, विधर्मियों को स्वीकार करने में अत्यधिक लचीलापन। बाहर से कोई भी आये—चाहे दूसरा धर्म हो, चाहे दूसरा राजा अथवा कोई पूर्णतया अजनबी, उनकी ओर तुरन्त श्रद्धामय हो जाते हैं, जबकि अपने ही लोगों को स्वीकार करने में हम कम उदार होते हैं। 4. वंशवाद के प्रति मोह। 5. साहसिक कार्यों की बजाय व्यक्तिगत सुरक्षा को महत्त्व देना।

डॉ. रमेश चन्द्र यादव 'कृष्ण' कहते हैं 712 ई. में भारत के द्वार पर एक अन्य विदेशी जाति प्रकट हुई। यह जाति पूर्ववर्ती सब जातियों से भिन्न थी। अब तक यूनानी, पार्थियन, सीथियन, शक, यूची, हूण आदि जिन विदेशी जातियों ने भारत पर आक्रमण किया था, उन्होंने कुछ समय भारत में रहने के पश्चात् यहां की संस्कृति और धर्म को अपना लिया था। वे नाम, भाषा, धर्म, व्यवहार, विचार, रीति-रिवाज और वेश-भूषा सभी दृष्टियों से यहीं की बन गई थी।

परन्तु इस समय अरब तुर्क और मुगलों के रूप में जो मुसलमान भारत आये वे यहां के बनकर न रहे। उन्होंने यहां की संस्कृति को अपनाने के बजाय समांतर रूप में अपनी पृथक् संस्कृति स्थापित की। अपने को भारतीय न कहकर विदेशी कहलाने में गौरव समझा। भारतवर्ष की समृद्धि से प्रसन्न होने के बजाय यहां की सम्पत्ति को लूट-लूट कर गजनी और काबुल के राजकोशों को भरने में आनन्द अनुभव किया। परिणाम यह हुआ कि भारत में दो पृथक् संस्कृतियां स्थापित हो गई और दोनों की खाई इतनी गहरी हो गई कि बड़े से बड़ा प्रयत्न भी उसे भेदने में असमर्थ हुआ है।

चन्द्रगुप्त वेदालंकार-बृहत्तर भारत, पृष्ठ 38-39 में कहते हैं—'सब समयों में मुसलमानों के हृदयों में एक भिन्न धारा बहती रही है। आज भी उनकी यही दशा है। प्रार्थना, प्रबन्ध, कानून, शिक्षा—सभी विषयों में उनके मुख अरब, ईरान और मिस्र की ओर मुड़े हुए हैं।'

डॉ. रामधारी सिंह दिनकर संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 398 में कहते है—'मुसलमान-मात्र की दृष्टि में अरब और ईरान ही इस्लाम के असली देश थे। भारत के मुसलमान मन से सपना अरब और ईरान का ही देखते थे। हिन्दुस्तान उनके शरीर का घर था, आत्मा का घर अरब और ईरान था।'

मेरे मौला बुला ले मदीना मुझे।

वी.एस नायपाल ने धर्मान्तरित देशों के सर्वेक्षण भेंट के आधार पर बताया है कि मत-धर्म बदलने पर व्यक्ति समूह अपने सम्पूर्ण अतीत, पुरखे, खून परम्परा को पूर्णतः भूलकर—दफनाकर अरबों-ईरानी रंग में रंग जाता है।

पाक उपन्यासकार आतिश तासीर कहते हैं—'हमें पाकिस्तान के मूल विचार की उस केन्द्रीय अवधारणा को देखना होगा, जो हर भारतीय चीज को नकारती है, उसकी संस्कृति को, इतिहास को।

जैसे ही देश विभाजित हुआ पाकिस्तान में हिंसा शुरू हो गई और यह स्पष्ट हो गया कि पाकिस्तान में गैर-मुस्लिमों (हिन्दुओं) के लिए कोई स्थान नहीं है।

पाकिस्तान के पास कोई सच्ची राष्ट्रीय पहचान नहीं है, इसलिए खुद को भारत के विरोधी के रूप में परिभाषित करता है। आजादी से पहले मुसलमानों और गैर-मुसलमानों के बीच जो साझा चीजें थी, वह उन सबसे मुंह मोड़ लेता है। पहनावे से लेकर तीज-त्योहार शादियों के रीति-रिवाज और साहित्य तक हर चीज शक के दायरे में है। पाकिस्तान इस उपमहाद्वीप से जुड़ाव की अपनी सारी निशानियां मिटाने के काम में लगा है, क्योंकि कई लोगों को लगता है कि यह जुड़ाव ही जहर है।

मोहम्मद करीम छागला ने कहा था कि वे मजहब से मुसलमान हैं और कौम से हिन्दू हैं।....इस ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सत्य को—मुस्लिम मुल्ला तथा बुद्धिजीवी सबने—छागला के कथन को ठुकरा दिया। वे काफिर करार दिए गए।

अभी-अभी गुजरात के मौलाना गुलाम मोहम्मद वस्तानवी, दारुल उलूम, देवनन्द के कुलपति नियुक्त हुए थे। उन्होंने गुजरात के विकास को स्वीकार किया। परिणाम यह हुआ कि मजलिस-ए-शूरा ने इस बयान को मुस्लिम विरोधी मानकर उन्हें पद से बर्खास्त कर दिया।

राष्ट्रपति डॉ. अबुल कलाम के विषय में कहते हैं—इनमें इस्लाम का क्या है? जब तक वे जिहाद की भाषा न बोले, राष्ट्र के विरुद्ध न बोले वह मुसलमान कैसे? सुप्रसिद्ध गांधीवादी चिंतक आचार्य धर्मपाल जी कहते हैं—'इस्लाम का घोषित लक्ष्य दारुलहर्ब का विध्वंस और विनाश कर सम्पूर्ण विश्व में दारुल इस्लाम प्रस्थापित करना है। सम्भवतः इसी कारण महात्मा गांधी को भी यह कहना

पड़ा था कि 'इस्लाम की सदियों से साम्राज्य विस्तार की परम्परा रही है। आचार्य धर्मपाल ने इस विषय में भारतीय मनीषा को स्पष्ट करते हुए लिखा है—विश्व के ऐसे स्थायी शत्रुभावापन्न समूहों, समाजों, आदर्शों आदि के उदय व विस्तार के बारे में भारतीय मनीषा सदैव प्रायः अनजान बनी रही जो दूसरे समाजों का विध्वंस कर पूर्ण अधीन बनाकर उन्हें अपने अनुरूप रूपान्तरित करना अपना परम पुरुषार्थ या कर्तव्य मानते हैं। इसी में जीवन का वैभव देखते हैं।

यही कारण है कि भारत पर 712 ई. से निरन्तर आघात कर 1947 ई. में दुनिया का सबसे बड़ा इस्लामिक राष्ट्र पाकिस्तान बना लिया। बचे-खुचे भारत को भी इस्लाम की झोली में डालने के लिए निरन्तर आघात जारी हैं। अपराध पर अपराध किये जा रहे हैं। उनको दण्डित, शमित करने के स्थान पर भारत के प्रधानमंत्री कहते हैं भारत के सारे संशाधनों पर पहला हक मुसलमानों का है।

यही स्थिति ईसाइयों की है। उनका भी स्पष्ट लक्ष्य है। कोई दुराव-छिपाव नहीं है—देश की राजधानी दिल्ली में आकर पोप घोषणा कर जाते हैं—जिस प्रकार प्रथम सहस्राब्दी में ईसाई मत की स्थापना यूरोप की धरती पर की गई थी, और दूसरी सहस्राब्दी में अमेरीका और अफ्रीका की धरती पर, उसी प्रकार हम प्रार्थना करते है कि तीसरी सहस्राब्दी में इस विशाल एवं महत्त्वपूर्ण एशिया महाद्वीप में हम बड़े विस्तृत स्तर पर लोगों को अपने मत में परिवर्तन कर लेंगे।

मध्य प्रदेश सरकार द्वारा नियुक्त नियोगी कमीशन की रिपोर्ट में डॉ. बी.एम. नियोगी कहते हैं—भारत में ईसाइयों द्वारा धर्मान्तरण, ईसाई पंथ के प्रभुत्व को पुनः स्थापित करने की एक-समान वैश्विक नीति का अंग है। इसका मूल प्रयोजन है कि इसके माध्यम से पश्चिम का राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया जा सके। यह किसी आध्यात्मिक लक्ष्य से प्रेरित नहीं है। प्रत्यक्षतया उनका उद्देश्य यह है कि ईसाई बहुल क्षेत्र स्थापित किये जाएं ताकि गैर-ईसाई समुदायों की एकता को भंग किया जा सके। इस दुर्भावनापूर्ण उद्देश्य से जनजातियों के एक बड़े वर्ग का सामूहिक धर्मान्तरण राज्य की सुरक्षा के लिए एक भारी संकट का सूचक है। इन्हें अपनी पड़ताल एवं साक्षियों में एक भी ऐसा धर्मान्तरित ईसाई नहीं मिला जो बिना किसी लोभ-लालच की प्रेरणा के ईसाई बना हो।

नेता तो उसे कहते हैं जो भविष्य में आने वाले षड्यंत्रों व संकटों को भांप लेंवे। पर जिनकी स्पष्ट घोषणायें हैं, खुला कार्यक्रम है और जिनकी सारी दार्शनिक अवधारणायें त्रुटिपूर्ण है, विकारों, पैशाचिकता को लिए हुए हैं अतः उनको दण्डित शमित करने के स्थान पर उसे न केवल हिन्दुओं के समांतर रखा जा रहा है, वरन् उन्हें विशेष, मानकर जितने भी जघन्य से जघन्य अपराध करे, उनकी अनदेखी कर उन्हें ही विशेष सुविधा और संरक्षण का क्रम निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

चीन का भी स्पष्ट घोष है। माओ कहते हैं भारत हथेली है, और तिब्बत, नेपाल, बर्मा, श्रीलंका, पाकिस्तान ये भारत के पड़ोसी देश पांच अंगुलियां है, जिसके द्वारा विश्व को नियंत्रित कर सकता हूं। तिब्बत को वह खा चुका है। नेपाल, पाकिस्तान में वह अपने प्रभाव में ले चुका है, वह अन्दर और बाहर दोनों तरफ से वह भारत को घेरता जा रहा है और निरन्तर भारत की सीमा का अतिक्रमण करता जा रहा है। हमारी अर्थव्यवस्था को प्रभावित करता जा रहा है और इन सबकी अनदेखी हो रही है, वह भारत को खण्ड-खण्ड कर देना चाह रहा है, पर हम उसके प्रति सजग और सावधान नहीं हैं। और हिन्दुओं का जनमानस ऐसे विघातक तत्त्वों को न जानना चाहता है, न सुनना चाहता है, बस बिना जाने-समझे ही सभी मानव हैं, सभी समान हैं एक हैं की रट लगाये हुए है—ऐसा मानस भारतीय संस्कृति की रक्षा, विकास और प्रसार में सबसे बड़ी बाधा है। यदि इससे बचना चाहते हैं तो वीर सावरकर को याद करना होगा। वीर सावरकर कहते हैं राजनीति का हिन्दूकरण और हिन्दुओं का सैनिकीकरण नहीं किया जायेगा तब तक भारत की स्वाधीनता, उसकी सभ्यता, संस्कृति कदापि सुरक्षित नहीं रह सकेगी। प्रत्येक हिन्दू को सैनिक शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाय।

सद्‌गुण विकृति से बचना होगा जो हमारी पराजय का सबसे बड़ा कारण रही है। इसकी विस्तृत व्याख्या पृष्ठ 59-60 में देखें।

इस्लाम से हम निरन्तर आघात पर आघात पा रहे हैं फिर भी हमने उनको कभी जानने का प्रयास नहीं किया। सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द ने इस्लाम को जानने का प्रयास किया और सत्यार्थ प्रकाश का एक अध्याय उसी पर है। तत्पश्चात् वीर सावरकर ने इस्लाम का सम्यक् अध्ययन किया और निष्कर्ष स्वरूप कहते हैं— With you, without you Inspite of you अर्थात् यदि तुम आओ तो तुम्हारे साथ, यदि तुम नहीं तो तुम्हारे बिना, यदि तुम विरोध करो तो उसकी अवहेलना करते हुए, मैं अपना कार्य निरन्तर करता रहूंगा। यही बात प्रकारान्तर से रूस के राष्ट्रपति श्री ब्लादिमिर पुतिन ने 4 फरवरी, 2013 को रूस की संसद मतलब डयूमा में दिए भाषण में कहा कि रूस में रूसी रहते हैं, कोई अल्पसंख्यक समुदाय यदि रूस में रहना चाहता है, रूस में काम करने की इच्छा है और रूस का अन्न भक्षण करता है, तो उसे रूसियों के समान ही बोलना होगा और रूस के कानून का आदर करना होगा। उन्हें शरीयत का कानून पसंद है, तो हमारी उनसे विनती है कि वे जहां ये कानून लागू है, उस स्थान पर जाएं। रूस को अल्पसंख्यकों की आवश्यकता नहीं। अल्पसंख्य को रूस की आवश्यकता है। हम उन्हें कोई विशेषाधिकार नहीं देंगे, या उनकी इच्छा के अनुरूप कानून नहीं बनाएंगे, फिर वे भेदभाव के नाम से कितना ही शोर क्यों न मचायें। पुतिन के इस वक्तव्य का सभी राजनैतिक दलों के नेताओं ने तालियों के साथ स्वागत किया।

केवल वे जो इतने शक्तिशाली हैं कि न केवल अपनी रक्षा कर सकते हैं, वरन् शत्रुओं के हृदय में भय उत्पन्न कर सकते हैं—शान्ति, अनाक्रमण और अहिंसा की बात कर सकते हैं।

इन चारों बातों को अमल में लाकर ही हम अपने अस्तित्व और आदर्शों की रक्षा करते हुए स्वाभिमान के साथ खड़े होकर विश्व में अपनी योग्य भूमिका का निर्वाह कर सकते हैं।

पर दुर्भाग्य से चारों बातों की उपेक्षा हो रही है। राजनीति का हिन्दूकरण (अर्थात् राष्ट्रीयकरण) न होकर इस्लामीकरण, ईसाईकरण, पश्चिमीकरण, अपराधीकरण और परिवारीकरण हो रहा है। हिन्दू तो सोचता है मैं तो अपने घर में हूं, अन्यों के प्रति उसके मन में कोई दुर्भाव है नहीं अतः अपने भोलेपन में लाठी से भी रहित है और मुसलमान अवैध हथियारों से लैस हैं। फिर हिन्दुओं में हम दो, हमारे दो और मुसलमानों में हम पांच हमारे पचीस! हिन्दू के एक ही बेटा होने से कौन उसे पुलिस में या सेना में भेजगा? स्वतः पुलिस व सेना मुसलमानों के हाथ में चली जायेगी अतः यह स्थिति अधिक दिनों तक रही तो भारत एक म्यूजियम की वस्तु, पुरातत्त्व की वस्तु, इतिहास एवं भूगोल की वस्तु बनकर रह जायेगा।

बौद्ध धर्म, जैन धर्म एवं गांधीजी की अहिंसा की अतिरेकी व्याख्या ने हिन्दू समाज को क्षात्रतेज से च्युत कर निस्तेज कर रही है। अहिंसा की विकृत व्याख्या का परिणाम है भगतसिंह जैसे स्वाधीनता सैनानियों को आतंकवादी और जो वास्तव में आतंकवादी हैं उन्हें अपने धर्म का पक्षधर कहा जा रहा है। स्वामी श्रद्धानन्दजी के हत्यारे को भाई अब्दुल रसीद कहते हैं उसके हत्या कर्म के लिए परिवेश को दोषी मानकर कहा गया कि उसने तो अपने धर्म के अनुसार कार्य किया। वास्तव में पूर्णता या सर्वाङ्गता का दर्शन वैदिक सनातन धर्म में ही होता है—इससे जो जितना निकट है चाहे वह बौद्ध धर्म है, चाहे जैन धर्म है, चाहे गांधी मत है वह उतना पूर्ण है और जो जितना दूर है उसमें उतनी अपूर्णतायें है, विकार का शिकार है।

धर्मनिरपेक्षता की विकृत व्याख्या हिन्दू समाज को धर्म से च्युत कर रही है और जो अराष्ट्रीय पंथ है उसे और उद्दण्ड बना रही है तथा गैर जिम्मेदार बना रही है।

आज हम अपने धर्म से च्युत और पश्चिम की अपसंस्कृति के शिकार हो रहे हैं, इससे निरे भौतिक जीवन मूल्यों को प्रश्रय मिल रहा है जिसमें श्रेष्ठ जीवन मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं बचता। केवल कॅरिअर और कॅरिअर के पीछे दीवाने होते जा रहे हैं कर्तव्यवाद के स्थान अधिकारवाद का बोलबाला होता जा रहा है। भारतीय संस्कृति कर्तव्य प्रधान है। सभी अपने-अपने कर्तव्य का पालन करें तो सभी के अधिकार स्वतः सुरक्षित हो जाते हैं। पर आज कर्तव्य गौण अधिकार भाव प्रबल होता जा रहा है।

ये सब भारतीय संस्कृति के मार्ग में अवरोध हैं। जिसे सनातन हिन्दू धर्म के प्रकाश में दूर करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार भारत के दो रूप स्पष्ट सामने आते हैं। एक अजर-अमर, शाश्वत भारत जो वेद, उपनिषद्-गीता पर आधारित है, प्राचीन भारत है, वेदोक्त भारत है जिसे सारा विश्व श्रद्धा से, सम्मान से देखता है, उसी से मार्गदर्शन की अपेक्षा रखता है। दूसरा आज का पथच्युत, रोगग्रस्त, भ्रष्ट, चरित्रहीन, धर्माभास का शिकार भारत जिसमें हम और आप आज रहते हैं। आज हम महान् संस्कृति, महान् देश के बौने पुत्र सिद्ध हो रहे हैं। यदि इससे उबरना चाहते हैं—रोम, मिस्र, बेबीलोन की कथा नहीं दोहराना चाहते हैं तो प्रत्येक हिन्दू को डॉ. एनीबेसेन्ट की बात को गांठ बांध लेनी चाहिए—भारत और हिन्दुत्व की रक्षा भारतवासी और हिन्दू ही कर सकते हैं। बाहरी लोग आपकी चाहे जितनी भी प्रशंसा करे, आपका उद्धार आपके ही हाथ में है। आप किसी प्रकार के भ्रम में न रहें। भारत और हिन्दुत्व एक और अभिन्न है। हिन्दुत्व के बिना भारत का कोई अस्तित्व नहीं है, कोई भविष्य नहीं है। हिन्दुत्व ही वह मिट्टी है जिसमें भारतवर्ष का मूल खजाना गड़ा हुआ है। यदि यह मिट्टी हटा ली गयी तो भारतरूपी वृक्ष सूख जाएगा। भारत में प्रश्रय पाने वाले अनेक पंथ है, जातियां हैं। जिस प्रकार पारसी समाज आया, वैसे ही चला जाए तो भारत भारत ही रहेगा। ऐसे ही यहूदी, इस्लाम, ईसाई समाज यहां आया, वैसे ही चला जाए तो भारत भारत ही रहेगा। किन्तु इस देश से हिन्दुत्व विलीन हो जाए तो क्या शेष रहेगा? तब शायद, इतना याद रह जाएगा कि भारत नामक कभी कोई भौगोलिक देश था। भारत के इतिहास को देखिए। उसके साहित्य, कला और स्मारकों को देखिए। सब पर हिन्दुत्व स्पष्टरूप से अंकित, खुदा हुआ है।

भारतीय संस्कृति और विश्व

हम सब मानव ईश्वर की संतान होने से सारा विश्व एक परिवार है और सभी को अपनी विशेषता कायम रखते हुए जीने का अधिकार है। अतः स्वयं जीयो और अन्यों को जीने दो। इसी दृष्टि से वसुधैव कुटुम्बकम् का विचार है। 'स्व-देशो भुवनत्रयम्।' परिवार बड़ा होने पर विभिन्न भौगोलिक खण्डों में वास करते हैं, तब शरीर से दूर होते हैं पर मन से जुड़े होते हैं। भारत के अग्रजन्मा, बड़ा भ्राता होने से, **'सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा'** होने से वेद भगवान् का आदेश है—कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'। बड़े भाई का दायित्व है कि छोटे भाई को शिक्षित करे। संस्कारित कर उसे श्रेष्ठ बनावे, सज्जन बनावे। और मनु भगवान् ने विश्ववासियों को आदेश दिया कि अपने-अपने कर्तव्य की, चरित्र की शिक्षा भारत से ग्रहण करें। यह पौराणिक तथ्य नहीं ऐतिहासिक तथ्य है। प्रारम्भ से लेकर आज तक विश्वमनीषा के लिए भारत आकर्षण का केन्द्र रहा है। चाहे मिस्र की

सभ्यता ले लेवें, चाहे यूनान के पाइथोगोरस, सुकरात, प्लेटो, अरस्तू को लेवें, चाहे स्वयं ईसा मसीह को लेवें। चाहे स्वयं पैगम्बर मुहम्मद साहब व उनके चाचा अब्दुल हिक्म अलबेरुनी को, फैजी को, दाराशिकोह, अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर, चाहे मैक्समूलर, कांट, शोपेनहावर को लेवें या स्पेन्सर, बर्गसां, एडिंगटन, श्रोडिंजर, आइंस्टीन, एक्सिस केरल, फ्रिट्जोफ केपरा, विल डूरेन्ट, अर्नाल्ड टायनबी, क्रिस्टोफर इशरहुड, मार्क टूली आदि हों।

भारत ने धर्म-दर्शन, सभ्यता-संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल का दान, अपनी श्रेष्ठताओं का दान बिना किसी देश की स्वाधीनता को छीने, बिना किसी के अर्थ पर डाका डाले, बिना किसी देश की मां-बहन के शील पर प्रहार किए अपने निष्कलंक चरित्र, निर्मल ज्ञान के द्वारा निःस्वार्थ भाव से, विश्वमंगल की भावना से बिना अपना अहित किये हुए दिया है। बिना कुछ छीने हुए उसे सत् संस्कार, सत् विचार, अपनी श्रेष्ठताओं का दान देकर उसका प्रसार किया है। केवल स्वयं सज्जन, सद्पुरुष बनने से काम नहीं चलेगा, अन्यों को भी सज्जन बनाओ अन्यथा वह आपकी सज्जनता में बाधा उपस्थित करेगा।

इसलिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं—भारतीय संस्कृति एक पूर्ण प्रफुलित पुष्प के समान है जिसके पराग के कण तथा बीज अनुकूल पवनों द्वारा संसार के भिन्न-भिन्न देशों-प्रदेशों में ले जाए गए तथा इस प्रकार संसार के विभिन्न क्षेत्रों में संस्कृति के पौधे आरोपित होकर लहलहाने लगे। फलस्वरूप सारा भूमण्डल भारतीय संस्कृति की सुगन्धि से सुवासित हो उठा।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार भारतीय संस्कृति का प्रसार ओस की बूंद की तरह रहा है जो रात्रि की निस्तब्धता में चुपचाप कब हृदय को सिंचित कर जाती है किसी को पता भी नहीं चलता।

राजनीतिक या कूटनीतिक हस्तमिलाप तो थोड़ा स्वार्थ के बदलते ही राजनीतिक या कूटनीतिक घूंसे में बदल जाता है, पर सांस्कृतिक सम्बन्ध दो हृदयों का बंधन है जिसे काल के थपेड़े भी तोड़ नहीं सकते। यही कारण है कि जापान का प्रधानमंत्री भारत की धूलि को अपने मस्तक पर चढ़ाता है। यदि इंडोनेशिया का राष्ट्रपति अपने देश में सर्वप्रथम 'अन्तर्राष्ट्रीय रामायण सम्मेलन' करता है, यदि तिब्बत के दलाईलामा अपना राज्य व धन खोकर भी बौद्ध तीर्थों में शान्ति पाते हैं, यदि मारीशस का प्रधानमंत्री सर्वप्रथम 'हिन्दी भाषा सम्मेलन' अपने देश में आयोजित करता है, यदि 7 हजार मील दूर पूर्व का फिजी और 12 हजार मील दूर पश्चिम का सूरीनाम रामचरितमानस, गीता को धर्मशास्त्र तथा हिन्दी को राजभाषा का सम्मान देता है और संसार के 85 देशों के हिन्दू आज भी कुम्भ मेले पर गंगा स्नान को तरसते हैं तो यह सांस्कृतिक सम्बन्धों का ही चमत्कार है।

इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टि

एक बार घनश्याम दास बिड़ला ने महामना पंडित मदन मोहन मालवीयजी से निवेदन किया कि आप अपना जीवन चरित्र लिखिये। इस पर उन्होंने कहा 'जीवन चरित्र पढ़ना हो तो श्रीमद्भागवत पढ़ो। मेरे जीवन में क्या रखा है।' इससे भारत की इतिहास के प्रति दृष्टि प्राप्त होती है। व्यासजी ने वेदों का सम्पादन किया। महाभारत, भागवत, अनेक महापुरुषों के जीवन चरित्र एवं वेदान्त सूत्र की रचना की पर स्वयं के विषय में कोई विवरण नहीं दिया। इसी परम्परा का निर्वहन हम बुद्ध, महावीर, आदि शंकराचार्य, रामानुज, मध्व, तुलसी, कबीर, मीरा आदि में पाते हैं। यही परम्परा हम शिल्पियों में पाते हैं, अजंता-एलोरा में एक ही पहाड़ को मोम की तरह चीरकर विश्वप्रसिद्ध मूर्तियां उकेर दी पर किसी ने अपना नाम अंकित नहीं किया। पर यह परिपाटी 100-150 साल में बदल गयी है। अतः पश्चिमी देशों का यह कहना कि भारत के लोगों को इतिहास का बोध नहीं। उन्हें लिखना नहीं आता। वस्तुतः ये भारतीय दृष्टि से परिचित नहीं हैं। पश्चिम के इतिहास में किसी शासक की कितनी शादियां हुई, किसके साथ अवैध सम्बन्ध थे, किस देश को अपनी ताकत के बल पर हथियाया आदि का वर्णन मिलता है। ऐसे इतिहास का संग्रहालय हमने कभी नहीं बनाया। हमने हमेशा समाजोपयोगी इतिहास का संग्रह किया। इसी दृष्टि से रामायण, महाभारत, पुराण आर्यप्रणीत हमारे इतिहास ग्रंथ हैं। फिर हमारा इतिहास लाखों-करोड़ों वर्षों का है। सौ वर्षों के इतिहास पर एक पृष्ठ भी लिखा जाए तो कल्पना करें कितने पृष्ठ हो जायेंगे। हमारा इतिहास पश्चिम की तरह मात्र 6 हजार वर्षों का नहीं है। रामसेतु की आयु 17 लाख से 23 लाख वर्ष आंक रहे हैं इसलिए हमने संस्कारक्षम समाजोपयोगी इतिहास का ही संकलन-सम्पादन किया।

भारतीय संस्कृति—विश्व की आशा

आज पश्चिम ने अध्यात्म को अस्वीकार करके और भौतिकता पर अतिरिक्त बल देकर जीवन को सिर्फ बहिर्मुखी बनाकर और अहर्निश कर्म की प्रेरणा देकर भौतिक सुखों का अम्बार तो खड़ा कर दिया है, पर आज वह सुखों एवं सुविधाओं के शैल पर जितना दु:खी और विषण्ण है उतना उससे पहले वह कभी नहीं था। आज भीड़ में वह अपने आपको अकेला महसूस कर रहा है। न वह किसी का है न अन्य उसके हैं। आज उसके पास अर्थ और काम के अलावा और किसी श्रेष्ठ प्रेरणा के लिए कोई स्थान नहीं है।

कम्यूनिज्म अपने ही घर में ढह चुका है। अमेरीका के ढहने की तैयारी है, उसका राष्ट्रजीवन आतंक के बल पर खड़ा है। उसका आर्थिक जीवन सारे विश्व के अधिक से अधिक प्राकृतिक संसाधनों का शोषण करके भी खोखला हो चुका है, दिवालिया होने की कगार पर है। 20-25 सालों में कभी भी ढह सकता है। उसका समाज जीवन,

परिवार जीवन समाप्तप्राय है। वहां बच्चे स्नेह से रहित हैं, वहां बुढ़ापा सम्मानहीन Old House में कटता है, वहां केवल पति-पत्नी के रिश्ते बचे हैं, जो बहुत कच्चे धागे में बंधे हैं। जो कभी भी टूटकर तलाक में बदल सकता है। अब तो पति-पत्नी के रिश्ते भी समाप्त होते जा रहे हैं। Boy friend Girl friend हैं, जब तक मन मिले साथ में रहो, फिर अलग हो जाओ। तो जिस सभ्यता का बचपन बीमार है, जिस सभ्यता का बुढ़ापा सम्मानहीन है, जिस सभ्यता की जवानी अति चंचल है वह देश विकास की ओर नहीं सर्वनाश की ओर ही बढ़ रहा है। इससे पश्चिम के सुलझे हुए मनीषी चिंतित हैं और आत्ममंथन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है। उसी आधार पर अरनॉल्ड टायनबी कहता है—यह बिल्कुल स्पष्ट होता जा रहा है कि उस अध्याय का अन्त भारतीय उपसंहार से ही होगा जिसका प्रारम्भ पाश्चात्य है। यदि मानव जाति का आत्मविनाश में अन्त न होना हो तो यहां (भारत में) हमारे पास वह दृष्टिकोण और भावना है जिससे मानव-जाति के लिए एक परिवार के रूप में विकास की सम्भावना है और इस आणविक युग में सर्वनाश से बचने का यह एकमात्र विकल्प है।

वह अन्यत्र कहता है—विज्ञान और प्रविधि के विकास के साथ, हो सकता है कि बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक सारा संसार अमेरीका के प्रभाव क्षेत्र में आ जाए। किन्तु इक्कीसवीं शती में जब विज्ञान का स्थान अध्यात्म लेगा तथा तकनीक का स्थान धर्म लेगा तब भारत ही सारी मानव-जाति का आध्यात्मिक गुरु होगा।

इसलिए गांधीजी कहते हैं—मेरी दृढ़ मान्यता है कि हमारी संस्कृति के पास जितने समृद्ध भण्डार पड़े हैं उतने किसी के पास नहीं हैं। हमने अपनी अनादि संस्कृति को पहचाना ही नहीं है। हम अगर संस्कृति के अनुरूप नहीं जीये तो एक समाज के रूप में हम आत्महत्या की ओर अग्रसर होंगे।

गांधीजी अन्यत्र कहते हैं—मेरे भीतर की भावना है कि संसार संहार के कारण मरणासन्न है, उसे इससे उबरने के लिए राह चाहिए। मैं आत्मतृप्ति और विश्वास के साथ कह सकता हूं कि इस विश्व के मार्गदर्शन का अधिकार प्राचीन भारतीय संस्कृति को ही होगा।

श्री मां कहती हैं—भारत का भविष्य बहुत स्पष्ट है। भारत जगद्गुरु है। जगत् का भावी ढांचा भारत पर ही निर्भर है। भारत एक जीवंत आत्मा है। भारत जगत् में अध्यात्म ज्ञान को अवतरित कर रहा है। भारत सरकार को इसकी महत्ता को समझकर अपनी कार्ययोजना बनानी चाहिए।

गांधीजी कहते हैं—हिन्दुत्व सत्य की सतत साधना है और यदि आज यह मृतप्राय, निष्क्रिय, विकास के प्रतिकूल हो गया तो इसका कारण है कि हम थक गए हैं और जैसे ही हमारी यह थकान दूर होगी, हिन्दुत्व सम्पूर्ण विश्व में एक ऐसी प्रखर दीप्ति के साथ छा जाएगा जो सम्भवत: इससे पहले सभी को अज्ञात होगी।

बी.बी.सी. के उद्घोषक मार्क टूली ने देहरादून में बेन्हम स्कूल के बच्चों को सम्बोधित करते हुए कहा था—आज पश्चिम अपने जीवनमूल्यों पर पुनर्विचार कर रहा है। अतः नकली अमेरीका बनने की अपेक्षा असली भारत बनना अधिक सातत्यपूर्ण है।

विल डूरेन्ट कहता है—हे भारत! इसके पहले कि पश्चिम अपनी घोर नास्तिक भोगवादी सभ्यता से निराश, शान्ति के लिए तरसता हुआ अति व्याकुल तुम्हारी शरण में आवे, कहीं भूल से अपनी लम्बी राजनीतिक पराधीनता के लिए तू अपने श्रेष्ठ अध्यात्म को ही दोषी मानकर अपना घर मत फूंक डालना।

अतः विश्वमनीषा की भारतीयमनीषा से अपील है कि इससे पूर्व कि पश्चिमी जड़वाद की अन्धी दौड़ से हताश पश्चिम पुनः भारत के चरणों में नतमस्तक हो सके, हमें अपनी आध्यात्मिक परम्परा से ऊबकर जल्दबाजी में अपनी महान् सांस्कृतिक निधि को प्राचीन काल का कूड़ा-कचरा समझकर आग नहीं लगा देनी चाहिए क्योंकि आज के युग की प्रायः समस्याओं का यथा आर्थिक दासता, अतिकामुकता, पशुता, नग्नता, अश्लीलता, अनास्था, चारित्र्यहीनता, अनुशासनहीनता आदि का सम्यक् उपचार भारत के पास है। इसलिए योगीराज अरविन्द ने कहा है—'मानवता को यदि सचमुच महानतम जीवनमूल्य चाहिए जिसके आधार पर मानवता का त्राण हो सकता है तो वे जीवनमूल्य जगद्गुरु भारत की महान् मृत्युंजय संस्कृति ही प्रदान कर सकती है। संसार के दुःखी प्राणियों को संस्कृति की सुधा पिलाकर अमरत्व का वरदान भारत ही दे सकता है।'

अतः स्पष्ट है कि भारत का जगद्गुरु का पद सुरक्षित है। आज के बुद्धिजीवी और सुविज्ञ नागरिक पश्चिमी भोगवादी सभ्यता से निराश होकर पुनः भारतीय संस्कृति का सुधापान करने के लिए तरस रहे हैं। पर शर्त यह है कि हम अपने जीवन में आदर्श को साकार कर उसके जीवित उदाहरण बनें। इसके अभाव में डॉ. हजारी प्रसाद के शब्दों में 'पश्चिम के मनीषी चाहे भारतीय संस्कृति की जितनी भी प्रशंसा करें वह उनके लिए अजायबघर की, म्यूजियम की अनोखी वस्तु ही सिद्ध होगी।' इसलिए डॉ. एनीबीसेंट कहती हैं हम पश्चिमवासी चाहे जितनी भी भारतीय संस्कृति की प्रशंसा करें, उसकी रक्षा एवं जीवित उदाहरण इस देश के मूल हिन्दू समाज को बनना होगा। इस प्रकार हमारे लिए जगद्गुरु का पद सुरक्षित है। और जिन्होंने भी इस दृष्टि से प्रयास किया, यथा स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, अरविन्द घोष, रवीन्द्रनाथ टैगोर, रमण महर्षि, साधु टी.एल. वास्वानि, डॉ. राधाकृष्णन्, गुरुजी आदि के कारण भारत पुनः-पुनः जगद्गुरु के पद पर प्रतिष्ठित हुआ है।

पश्चिमी सभ्यता का बुरा हश्र क्यों?

यूनानो मिस्र रोमां सब मिट गये जहां से,
बाकी है अब तलक भी, नामों निशां हमारा।

कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
सदियों रहा है दुश्मन, दौरें जमां हमारा।

रोम, यूनान, मिस्र, असीरिया, बेबिलोनिया, ग्रीक आदि की सभ्यताएं जिसने एक समय अपने साम्राज्य का विस्तार विश्व के बड़े भूभाग में स्थापित किया। ऐसी विश्वव्यापी सभ्यताएं कोई 20 वर्ष के थपेड़ों में तो कोई 50 वर्षों के थपेड़ों में तो कोई 100 वर्षों के थपेड़ों में, तो कोई 200 वर्षों के थपेड़ों में सदा के लिए समाप्त हो गईं। देश नष्ट होने का तात्पर्य वहां की भूमि या जन समाज नष्ट नहीं हो गया। वरन् उनकी सभ्यता, संस्कृति नष्ट हो गई। उनका प्राचीन संस्कृति की धारा से, दर्शन से कोई सम्पर्क नहीं रह गया। अब इन सभ्यता-संस्कृति का मात्र नामशेष है। उनकी सभ्यता-संस्कृति को जानने के लिए म्यूजियमों में, पुस्तकालयों की पुस्तकों के पृष्ठों में जाना होगा। मिस्र के वर्तमान निवासियों का मजहब और संस्कृति का अपने देश के उन प्राचीन लोगों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, जिन्होंने नील नदी की घाटी में गगनचुम्बी विशाल पिरामिडों का निर्माण कराया था और जिन्होंने अपने पितरों को अमर जीवन प्रदान करने के लिए उनके शरीरों की ममी बनायी थी।

ग्रीस और रोम के मजहबों का आज कोई अनुयायी नहीं है। जो विचारधारा प्राचीन ग्रीक और रोमन लोगों को देवी-देवताओं के रूप में प्राकृतिक शक्तियों की पूजा के लिए प्रेरित करती थी, ग्रीस एवं इटली के वर्तमान निवासियों के लिए वह कोई अर्थ नहीं रखते। आज ग्रीक में रहने वालों का प्लेटो, अरस्तू, सुकरात, पाइथोगोरस से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। उनके प्रेरणास्रोत वो नहीं रह गये। जो यूनान यूरोपीय विचारों की जननी माना जाता है उस विचार से आज के यूनानवासी का कोई सम्पर्क नहीं है। सम्बन्ध नहीं है। उनके प्रेरणा के वे स्रोत नहीं रहे।

युग पर युग बीत गए, युग पर युग बीत रहे हैं तथा युग पर युग बीतते चले जाएंगे पर भारत की मृत्युंजयी संस्कृति भूत-भविष्य तथा वर्तमान के लिए चुनौती

बनी हुई आज तक जीवित है। काल और दुर्भाग्य के सभी प्रकार के थपेड़े खाकर भी आज न केवल जीवित है वरन् यशस्वी है। आज स्वतंत्र भारत में अपने देश के सत्ताधीशों एवं बुद्धिजीवियों द्वारा अपनी संस्कृति सब प्रकार से उपेक्षित एवं प्रताड़ित होने के बावजूद भी विश्व के सुलझे हुए मनीषियों के लिए आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है। आज भी हमारी प्रेरणा के स्रोत—वेद, उपनिषद्, गीता ही हैं। राम भी इनसे प्रेरणा पाते थे। उनके पितृपुरुष रघु, हरिश्चन्द्र भी प्रेरणा पाते थे।

ऐसी कौन-सी विशेषताएं हैं जिससे भारतीय संस्कृति आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है? जबकि विश्व की बड़ी-बड़ी विशाल सभ्यताएं नष्ट हो गई। एक अमेरीकन John B. Sparks ने एक विशाल मानचित्र 'The Histomap of history' The Rise and fall of peoples and nations four thousand years में जन समाज एवं देशों का चार हजार वर्षों का उत्थान एवं पतन का इतिहास दर्शाया है। जिसमें प्राचीनतम सभ्यताओं का नक्शा बनाते हुए दिखाया गया है कि ग्रीक, यूनान, रोम व मिस्र, असीरिया, बेबीलोन की सभ्यताएँ उदित हुई, फली-फूली, विकसित हुई और अपने वैभव और राजनीतिक उत्कर्ष काल में राजनीतिक साम्राज्य के अन्तर्गत विश्व के अधिकांश देशों पर छा गयी। अपने अंक में ले लिया। इस प्रकार इनका इतना पेट फूला कि शेष में पेट फट कर वह सभ्यता सदा के लिए विलीन हो गई। पर भारत का पेट न इतना पिचका कि अनाहार से मर जाय और न इतना फूला कि पेट फट जाय।

प्रारम्भ से आजतक निरन्तर अविच्छिन्न धारा बनी रही और अपने राजनीतिक उत्कर्ष काल में भी उसने कभी भी विश्व पर न अपना राजनीतिक साम्राज्य विस्तार किया, न किसी के अर्थ पर डाका डाला है, न किसी की स्वाधीनता छीनी, न धर्म ही छीना और न किसी के शील पर ही डाका डाला। हमने दिया तो संस्कृति का दान दिया। सभ्यता का, कला का, विज्ञान का दान दिया और आज भी हमारा सांस्कृतिक साम्राज्य अनेक अंशों में अक्षुण्ण है। सुरक्षित है।

ये बड़ी-बड़ी विशाल सभ्यताएँ आखिर नष्ट क्यों हो गई और भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति आज भी जीवित क्यों है? इसका रहस्यमय कारण है कि जो सभ्यता मात्र भौतिकता पर आधारित होती है वह नश्वर होती है और आध्यात्मिकता पर आधारित सभ्यता-संस्कृति चिरंजीवी होती है। सिर्फ भौतिकता के आधार पर जीवन में कोई महत् लक्ष्य या परोपकार की कोई प्रेरणा नहीं रहती। उनके पास लक्ष्य अर्थ और काम रह जाता है। ये दो ही प्रेरणायें रह जाती हैं। उस राष्ट्र के व्यक्ति का जीवन निरा भोगवादी बन जाता है। उसके जीवन में दो ही आकर्षण शेष रहते हैं—अर्थ और काम। रोम में बड़े-बड़े गुसलखाने (वमन कक्ष Vomiting Room) बने हुए थे। जहां खाना और वमन करना ही उनका कार्य था।

रोम गुलामों की सबसे बड़ी मण्डी थी। और गुलामों का सबसे बड़ा देश था। कालान्तर में वहां के मूल निवासी सभी के सभी भोगी विलासी, लम्पट बन गए एवं अकर्मण्य बन गए। सारा कार्य व्यापार गुलाम ही चलाते थे और मूल निवासी भोग-विलास में मत्त रहते थे। ऐसी अवस्था में विदेशी आक्रमणों के छोटे-छोटे झटकों में ही ये राष्ट्र समाप्त हो गए। गुलामों में राष्ट्र की रक्षा की प्रेरणा नहीं थी। वे तो गुलामी से मुक्त होना चाहते ही थे एवं मूल निवासी अकर्मण्य, निकम्मे बन जाने से यह दुर्गति हुई। अतः केवल भौतिकता का आश्रय लेकर हम अपने राष्ट्र जीवन को चिरंजीवी, दीर्घजीवी नहीं बना सकते। जबकि भारत सब प्रकार के संकट झेलकर, उसका सामना कर जीवित है। सब प्रकार के संकट झेलने की प्रेरणा सदैव धर्म एवं संस्कृति ने दी। चाहे हम वर्तमान स्वाधीनता आन्दोलन के कर्ता पुरुषों को ही देख लेवें—विवेकानन्द, तिलक, मालवीयजी, गांधी आदि सब धार्मिक पुरुष थे।

आधुनिक युग में बिना आध्यात्मिक आधार के कम्यूनिज्म का सिद्धान्त असफल हो गया। लोक कल्याण में प्रवृत्त फिर अपने स्वार्थ पोषण में लगकर कैसे अत्याचारी एवं हत्यारों में परिणत हो गये। फलतः आज कम्यूनिज्म धारा विश्व से समाप्त हो गई। भारत में तो नमूने के तौर पर आतंक के बल पर टिकी है। जो ज्यादा नहीं चल सकती। क्योंकि वैचारिक आधार समाप्त हो गया है। ऐसा आदर्श शोषण मुक्त समाज कि जिसमें सब आवश्यकतानुसार पायेंगे एवं योग्यतानुसार कार्य करेंगे। ऐसे साम्यवाद के लिए साम्यबोध आना चाहिए। एवं साम्यबोध आता है धर्म से।

सकल जीव सृष्टि में एक ही चेतन सत्ता, आत्मा सत्ता, ईश्वरीय सत्ता विराज रही है। तभी सारी सृष्टि के प्रति हमारी आत्मीयता का भाव जागृत होता है। हम व्यक्ति जीवन, परिवार जीवन से उठकर समष्टिगत हो सकते हैं। जैसे किसी अपरिचित व्यक्ति से परिचय के दौरान रक्त सम्बन्ध निकल आने पर तुरन्त उसके प्रति आत्मीयता उपज जाती है। और व्यक्ति सब प्रकार के सहयोग के लिए प्रस्तुत हो जाता है। यह मनुष्य का स्वभाव है। जैसे-जैसे धर्म भाव का हमारे अन्दर उदय होता जाता है हमारी चेतना विकसित होती जाती है। पहले अपने तक, फिर परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र, विश्व के प्रति बनती जाती है।

चेतना का विकास कार्य धर्म या अध्यात्म के आधार पर ही सम्भव होगा जिसको वह अविचारणीय बता कर उपेक्षा कर देता है। फलतः वह चरित्र से पतित हो जाता है, स्वकेन्द्रित हो जाता है, स्वार्थी हो जाता है, परिवार तक सीमित हो जाता है। प्रथम-प्रथम में थोड़ा लोक कल्याण होता है, पर कालान्तर में कम्यूनिज्म की नास्तिक आस्था के आधार पर एक प्रतिक्रिया पैदा होती है। ईश्वर है ही नहीं।

यदि है तो ईश्वर किसी उचक्के, बदमाश का नाम है। नैतिक मूल्य पुराने जमाने के बाट या सिक्के के समान हैं जो नये युग में अप्रचलित हो जाते हैं। धर्म जनसाधारण को नशे में भुलाए रखने के लिए अफीम मात्र है। यदि कर्मफलदाता कोई है ही नहीं, इस जन्म के बाद कोई जन्म नहीं, यही प्रथम और अन्तिम जन्म है। यह जन्म अकस्मात् मिला और अकस्मात् ही अनन्त में विलीन हो जाएगा। अच्छे-बुरे, सज्जन-दुर्जन दोनों की अन्तिम गति मिट्टी में ही मिल जाना है तो किसी का भला क्यों करूं? जब तक जीवन है तब तक मस्ती कर लूं। जब तक अवसर है मस्ती ले लूं। इसी आधार पर यह विचार स्वपोषण एवं पर-अत्याचार में लगकर समाप्त हो गया। अतः बिना धार्मिक, आध्यात्मिक आधार के कोई वाद या सिद्धान्त अपने आदर्श को अधिक दिन तक कायम नहीं रख सकता। वह आदर्श से च्युत होने के लिए बाध्य है। वे शोषण मुक्त समाज की क्या स्थापना करेंगे जो स्वयं सबसे बड़े शोषक बन जाते हैं। देखें—वर्तमान, नेताओं एवं कार्यकर्ताओं के चरित्र को।

बिना धार्मिक या आध्यात्मिक आधार के मनुष्य का कितना पतन होता है इसकी कोई सीमा नहीं है।

मनुष्य और पशु में एक मौलिक अन्तर है। पशु को जितना ज्ञान अपने व्यवहार सम्पादन के लिए, जीवन धारण के लिए आवश्यक होता है वह उसे नैसर्गिक रूप से या भगवान् के घर से लेकर ही आता है और जन्म से ही उसे प्राप्त रहता है। अर्जित नहीं करना पड़ता। वह न अपना उससे अधिक विकास करता है और न पतन ही। वह किसी प्रकार का भी विकास चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक, करने में अक्षम है। आदिकाल से आज तक उसके जीवन का क्रम एक-सा है। वह जैसे गुफा में, जंगल में रहता आया है वैसे ही अब तक रहता आया है। वह दो कारणों से ही हिंसा में प्रवृत्त होता है। एक भूख के कारण, दूसरा आत्मरक्षार्थ। यानी पशु का जीवन स्थिर है।

मनुष्य का जीवन स्थिर नहीं है। जैसे दूध को संस्कारित कर उससे दही, दही से मक्खन, मक्खन से घी प्राप्त कर घी को दीर्घ समय तक रखा जा सकता है। दूध को प्राकृत अवस्था में ही छोड़ दें तो विकृत हो जाएगा। वैसे ही मनुष्य का चरित्र है। मनुष्य धर्म संस्कारों के द्वारा अपना सर्वोच्च विकास कर सकता है। वह नर से नरत्व, नरत्व से देवत्व, देवत्व से ब्रह्मत्व तक पहुंच सकता है। जैसा राम, कृष्ण, राणा प्रताप, शिवाजी, गांधीजी, तिलक, सुभाष बोस आदि में पाते हैं। राम ने बंदर, भालुओं एवं वनवासी जाति को संस्कारित करके धर्मवीर बना दिया, जो त्रिभुवनजयी रावण को परास्त करने में सक्षम हुए। राणा प्रताप ने जंगली भीलों को, शिवाजी ने पहाड़ी मावलों का संस्कारों के द्वारा कायाकल्प कर दिया। जो धर्म युद्ध में सहायक बने। अतः एक राम के या शिवाजी के

निर्माण ने करोड़ों राम शिवाजी को उत्पन्न कर दिया। वैसे एक दुष्ट रावण ने करोड़ों रावण को उत्पन्न कर दिया। और धर्म संस्कारों के अभाव में वह नर से नर पशु, नर पशु से नर पिशाच बना यानी पतन की भी कोई सीमा नहीं है। उदाहरण के लिए शक, हूण आदि जातियां धर्म संस्कारों के अभाव में निरी पशु थी। उन्हें मनुष्य को भीषण कष्ट दे-देकर मारने में बड़ा आनन्द आता था। उनकी सन्धि की शर्तें होती थी—अपना सिर काट कर अपनी रानी सहित दस सुन्दरियों को भेज दो, अन्यथा युद्ध का सामना करो। उन्हें राजाओं की खोपड़ी को फुटबाल बनाकर खेलने, उनकी खोपड़ी को प्याला बनाकर उसका ही रक्तपान करने में आनन्द आता था। एक बादशाह को पहाड़ से हाथी गिरवाकर उसकी चीत्कार सुनने में आनन्द आता था। Eachman जो प्रथम अपनी रक्षार्थ मजबूरी से हिटलर के आदेश से हत्या करता था, कालान्तर में उसी कार्य में उसे आनन्द आने लगा और हिटलर को उसने मनुष्य के चमड़े की सोफासेट, मनुष्यों के आंखों की माला भेंट की। रोम, गुलामों की सबसे बड़ी मण्डी थी। जिन्हें नग्न-अर्द्धनग्न रखा जाता था। गले में सांकल बांधकर। घर के दरवाजे पर या गली-कूचों में सोना पड़ता था। अपराध होने पर समुद्र में मगरमच्छ के आगे फेंक दिया जाता था। निरपराध होने पर हिंसक पशुओं से लड़ना पड़ता था। हारने पर रथ में शरीर को फंसाकर घसीटा जाता था।

इस प्रकार धर्म के संस्कारों के अभाव में मनुष्य नरपिशाच बन जाता है और अपने जैसे नरपिशाचों की फौज तैयार कर लेता है। इस प्रकार पतन की कोई सीमा नहीं है।

अतः धर्म के अभाव में मनुष्य न अपने जीवन का निर्माण कर सकता है और न सुदृढ़ राष्ट्र जीवन और न कोई वाद ही चला सकता है। और धर्म का विरोध करने वाले अन्ततोगत्वा अधर्म की शरण में चला जाता है। आज पश्चिम ने अध्यात्म को तिरस्कृत करके और कोरी भौतिकता पर बल देकर भौतिक सुखों का अम्बार तो लगा दिया पर जीवन कला के अभाव में, उसके उपयोग की यथार्थ बुद्धि के अभाव में भौतिक सुखों के शैल पर खड़ा होकर जितना दु:खी आज है। उतना पहले कभी नहीं था। आज उसका सुख ही उनके लिए नरक बन गया है। आज वह शरीर से जितना निकट है, मन से, हृदय से उतना ही दूर हो गया है। वह आज भीड़ में अकेला हैं, न वह किसी का है, न कोई उसका। आज वह सारे विश्व के लिए संकट बन रहा है। क्योंकि पश्चिम ने जो विकास साधित किया है वह अपने अन्तर-जीवन-परिवार जीवन और समाज जीवन को खोखला करके।

जब अधिकांश भारतीय लेखक भी पश्चिम में पूर्ण स्वर्णिम युग की आशा लगाए हुए थे। विवेकानन्द भी अपनी पहली यात्रा में अमेरीका और यूरोप के शौर्य,

संगठन और मिथ्या लोकतंत्र के भुलावे में आ गए थे। पर दूसरी यात्रा में पश्चिमी सभ्यता की निरर्थकता समझ में आ गई थी। विवेकानन्द पहले व्यक्तियों में से थे जिन्होंने अनुभव किया कि यूरोपीय सभ्यता के ऊपर संकट की छाया चुपचाप घिरी आ रही है। बाहर से वह सभ्यता अपनी सफलता के चरम शिखर पर थी। उस समय के अधिकांश भारतीय लेखकों ने पश्चिम में समृद्धि, आशावाद, विज्ञान और तकनीकी प्रगति के अतिरिक्त कुछ नहीं देखा था। क्योंकि अर्थ, काम और शक्ति के सिद्धान्त ने मनुष्य को बहिर्मुखी बनाकर अहर्निश कर्म करने की प्रेरणा दी जिसके फलस्वरूप अपार भौतिक वैभव प्राप्त हुआ जो किसी भी युग में इसके पूर्व शायद सम्भव नहीं हुआ था। पृथ्वी पर स्वर्ग उतारने के बजाय पृथ्वी को ही स्वर्ग में परिणत कर दिया और यह आशा की जाने लगी कि अब एक पूर्ण जगत् का आगमन होने ही वाला है। दु:ख, दैन्य, अज्ञानता की सदा के लिए समाप्ति होने ही वाली है। प्रगति की शताब्दी की इस मनोदशा को प्रकट करते हुए ब्राऊनिंग ने गाया था—

ईश्वर अपने स्वर्ग में है और
संसार में सब कुछ ठीक ठाक है।

जब अधिकांश भारतीय लेखक भी पश्चिम में पूर्ण स्वर्णिम युग की आशा लगाए हुए थे उस समय विवेकानन्द ने पश्चिमी सभ्यता की दुर्दशा को दूरदृष्टि से देखकर भौतिकता के गढ़ में ही घुसकर यह सावधान वाणी दी तो उस समय कुछ लोगों को विवेकानन्द के विचार अमंगल सूचक लगे थे। उन्होंने घोषणा की कि पश्चिम की जीवन यात्रा एक अट्टहास है। किन्तु उसके पीछे रुदन है और रुदन में ही इसकी परिसमाप्ति होगी।

पश्चिमी राष्ट्र ज्वालामुखी पर्वत पर टिका हुआ है जो अपने होंठों में लिपिस्टिक लगाए हुए कृत्रिम मुस्कान बिखेर रहा है। जिसके अन्दर रुदन ही रुदन, हाय-हाय ही, व्यथा ही व्यथा, पीड़ा ही पीड़ा भरा है। जबकि भारत में (गरीबी के मार से अंग्रेजों के कारण) ऊपर में तो रुदन है, पर भीतर में आमोद-प्रमोद समाया हुआ है। क्योंकि उसे आत्मा की अमरता, कर्म के सिद्धान्त, पुनर्जन्म में विश्वास है। पिछले कुछ हीन कर्मों के कारण अंग्रेजों की मार पड़ रही है। पुनः अपने कर्मों को सुधार कर, अंग्रेजों को भगा कर पूर्व की भांति विश्वविजयी बन जायेंगे। यदि 50 वर्षों के अन्दर आध्यात्मिक आधार को नहीं अपनाया तो यह सभ्यता फटकर चिथड़े-चिथड़े में बिखर जाएगी। कुछ वर्ष बाद रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी उस आसन्न संकट को अनुभव किया था जिसे उन्होंने अपनी एक कविता में अभिव्यक्त भी किया। स्वामी रामतीर्थ को भी पश्चिमी सभ्यता की व्यर्थता का बोध हो गया था—

सभ्यता एक उद्देश्यहीन सपना भर
ऊपर से ऊंचे नाम-रूप पर क्या भीतर?
तुम में अपना ही ज्ञान रहा नहीं बाकी
तुम शैल शिखर पर.......

स्वामीजी पश्चिमी सभ्यता की चमक-दमक की तुलना गोबर में लिपटी हुई मिठाई से करते हैं। ऊपर से तो मिठाई दिखती है पर अन्दर में गोबर-मल भरा हुआ है।

गांधीजी ने भी पाश्चात्य यंत्रकौशल पर आधारित भौतिकवादी सभ्यता के विषय में निराशाजनक भाव ही 'हिन्द स्वराज्य' में व्यक्त किए। इसे पैशाचिक सभ्यता कहा है। क्योंकि यह अनन्त अर्थ और काम की भूख को जगा देता है।

प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर बहुत से यूरोपीय बुद्धिजीवियों ने इन मनीषियों की आशंकाओं को याद किया था। पाश्चात्य मनीषियों का भौतिकता पर आधारित सभ्यता एवं जीवन-दर्शन पर प्रथम मोहभंग सन् 1914-18 के विश्वयुद्ध से हुआ। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध वाला संकट युद्ध समाप्त हो जाने पर भी दूर नहीं हुआ वरन् संकटों की एक मालिका के रूप में कभी बोलशेविक क्रान्ति, कभी फासिस्ट एवं नात्सी प्रभाव एवं लोभ, असहिष्णुता तथा हिंसा के बढ़ते हुए ज्वार के रूप में व्यक्त हुआ और अन्ततोगत्वा सन् 1939-1945 के द्वितीय विश्वयुद्ध के अभूतपूर्व संकट के रूप में फूट पड़ा। इसी महायुद्ध के अन्त में स्वयं सभी आविष्कारों को खाने वाला दावानल रूप अणु बम नागाशाकी और हिरोशिमा में प्रयुक्त हुआ। इन विश्वयुद्धों एवं संकटों ने पाश्चात्य विचारकों में आत्मशोध एवं आत्मपरीक्षण का एक आन्दोलन ही चला दिया। हमारी सभ्यता में कौन-सी बुराई आ गई। गम्भीर आलोचना एवं टीकाएं होने लगी। फिर कम्यूनिज्म के अवसान ने आत्मशोध की प्रक्रिया को और भी तीव्र कर दिया।

आज पश्चिम में परिवार जीवन एवं समाज जीवन समाप्तप्राय है। आज जितने भी प्रकार के अपराध हैं उसमें सबसे सिरमौर अमेरीका है। कमोबेश यही हाल सारे यूरोपीय देशों का है। आज वहां बच्चे स्नेह से वंचित हैं, वहां बुढ़ापा सम्मानहीन बोझ के तुल्य है, old House में कटता है। वहां जवानी चंचल और अस्थिर है। वहां सारे रिश्ते समाप्त हो गए हैं सिर्फ पति-पत्नी का रिश्ता बचा है। यह रिश्ता भी बहुत कच्चे धागे से बंधा है। कभी भी तलाक में परिणत हो सकती है। अब तो पति-पत्नी के स्थान पर Boy friend and Girl Friend Relationship in living जब तक मन मिले साथ-साथ रहो, फिर अलग हो

जाओ। तलाक में कानूनी प्रक्रिया अपनानी पड़ती है, यह उससे मुक्त है। अतः जिस सभ्यता का बचपन बीमार हो, बुढ़ापा बेकार व सम्मानहीन हो, जवानी अस्थिर एवं चंचल हो। उसका भविष्य क्या हो सकता है? वह क्या विकास की ओर जा रही है या सर्वनाश की ओर?

डॉ. राधाकृष्णन् ने पश्चिम यात्राओं में कई बार कहा—यह ठीक है आप समुद्र में मछली की भांति तैर सकते हैं, आकाश में पक्षी की भांति विचरण कर सकते हैं, पर पृथ्वी पर मनुष्य की भांति रहने के लिए भारत से सीखना होगा। आज यूरोपीय राष्ट्र इन दुर्दशाओं से बचने के लिए हिन्दू धर्म पर शोध कर रहे हैं। उनसे मार्गदर्शन प्राप्ति की आशा लगाए हुए हैं।

होकर स्वतंत्र मैंने कब चाहा है कर लूं जग को गुलाम?
मैंने तो सदा सिखाया है, करना अपने मन को गुलाम।
गोपाल राम के नामों पर, कब मैंने अत्याचार किये?
कब दुनिया को हिन्दू करने, घर-घर में नर-संहार किये?
कोई बतलाए काबुल में, जाकर कितनी तोड़ी मस्जिद?
भूभाग नहीं, शत-शत मानव के, हृदय जीतने का निश्चय।
हिन्दू तन मन, हिन्दू जीवन, रग-रग हिन्दू मेरा परिचय!

—**अटल बिहारी वाजपेयी**

× × ×

क्या अद्भुत देश है यह! इस पुण्य भूमि पर चाहे जो खड़ा हो—वह इस भूमि का पुत्र हो अथवा विदेशी—यदि उसकी आत्मा दुर्दान्त पशुओं के स्तर तक नहीं गिर चुकी है—तो वह स्वयं को पृथ्वी के इन श्रेष्ठतम एवं शुद्धतम पुत्रों के तेजोमय विचारों से घिरा हुआ अनुभव करेगा, जो शताब्दियों तक पशु को देवत्व के शिखर तक उठाने के लिये कार्य करते रहे हैं और जिनका आरम्भ खोजने में इतिहास भी असफल रहा है। यहाँ का वायुमण्डल ही आध्यात्मिकता की तरंगों से ओत-प्रोत है।

—**स्वामी विवेकानन्द**

पाश्चात्य विज्ञान तीन कारणों से भारतीय दर्शन की ओर झुक रहा है

यूरोप का मध्य युग ज्ञान-विज्ञान और शिक्षा की दृष्टि से अंधकार युग कहा जाता है क्योंकि उस समय बाइबिल से स्वतंत्र चिंतन-मनन संभव नहीं था। शिक्षा का दायित्व चर्च के ऊपर था। चर्च ने शिक्षा से यूनानी और लैटिन भाषाओं का अध्ययन निकाल दिया था क्योंकि इस अध्ययन का चर्च की शिक्षाओं से कोई सम्बन्ध न था बल्कि चर्च की विचारधारा से विरोध ही था। इसलिए सिकन्दर द्वारा स्थापित 'ऐलिग्जेन्ड्रिया' का विशाल पुस्तकालय जिसमें सात लाख पुस्तकें थी जो ग्रीक एवं भारतीय विद्याओं के अध्ययन का यूरोप में सबसे बड़ा केन्द्र था, उस पुस्तकालय को आग दिखा दी गई। चर्च ही शिक्षक, गुरु सब था। उस समय धार्मिक अंधविश्वास से समाज इस तरह जकड़ गया था कि बाइबिल से स्वतंत्र चिंतन-मनन की प्रवृत्ति ही समाप्त हो गई थी। बाइबिल एवं पोप के आप्तवाक्य से जुदा स्वतंत्र अनुभव एवं निरीक्षण की प्रयोगात्मक विधि से भी ज्ञानार्जन हो सकता है, इससे वे मानो अनजान ही थे। इस विषय में प्रसिद्ध दार्शनिक बेकन का दिया गया दृष्टान्त बड़ा रोचक है—

अनुभवात्मक या प्रयोगात्मक विधि का अभाव—हमारे प्रभु (ईसा) के 1432 वें वर्ष में कुछ भाइयों के बीच इस बात पर बड़े जोर से बहस छिड़ गयी कि घोड़े के मुँह में कितने दांत होते हैं। यह बहस 13 दिन तक अनवरत चलती रही। सभी प्राचीन पुस्तकें और वृत्तांत निकाले गये और अत्यन्त आश्चर्यचकित करने वाला ऐसा विद्वत्तापूर्ण तथा मननशील प्रदर्शन हुआ जैसा इस क्षेत्र में पहले कभी नहीं हुआ था। 14वें दिन के आरम्भ में एक नवयुवक कुशल पादरी ने अपने सुयोग्य वरिष्ठों से कुछ कहने की आज्ञा मांगी। वह उनके गहरे ज्ञान से खीज गया था और उसने सब शास्त्रार्थ करने वालों को महान् आश्चर्य में डालते हुए उनसे अपनी विधि बदलने को कहा तथा ऐसी बात बताई जिसके विषय में पहले न कभी सुना गया था और न देखा गया था। उसने कहा, आप लोग घोड़े का मुंह खोलकर क्यों नहीं देख लेते जिससे आपके प्रश्नों का सरलता से उत्तर मिल जाये। इससे

उन सबकी प्रतिष्ठा को गहरी क्षति पहुंची। वे उस पर टूट पड़े। उसे खूब पीटा और तुरन्त भवन से बाहर फेंक दिया। उनका विचार था कि निश्चय ही शैतान ने इस साहसी नौसिखिये को फंसा लिया है जिससे वह सत्य को खोजने की अत्यन्त अपवित्र—पहले कभी न सुनी और देखी गई—तथा पवित्र पूर्वजों की शिक्षाओं के बिल्कुल विपरीत विधि बताने लगा। फिर कुछ दिन चर्चा चलाकर उस विषय को स्थगित कर दिया गया। क्योंकि इस विषय में शास्त्रों में लिखित नहीं होने से उस विषय को व्यर्थ मान लिया गया। इस प्रकार मध्ययुग के अन्त तक ईसाइयत को इस जकड़न ने ज्ञानांधकार में डुबा कर रखा।

जब यूरोप ज्ञानांधकार में खोया हुआ था तब अरब में भारत के सम्पर्क से ज्ञान का दीपक टिमटिमा करके जल रहा था। और जब अरब के माध्यम से यूरोप भारतीय एवं ग्रीक ज्ञान से परिचित हुआ तब निरीक्षण और परीक्षण की प्रयोगात्मक विधि से ज्ञानान्वेषण में प्रवृत्त हुआ। विज्ञान के नये-नये आविष्कार सामने आये। जो नक्षत्र विज्ञान एवं जीव विज्ञान से विशेष सम्बन्धित थे।

बाइबिल के अनुसार पृथ्वी चपटी है। पृथ्वी ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। सूर्य पृथ्वी के चारों तरफ चक्कर लगाता है। टॉलमी ने खगोलशास्त्र पर एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक की रचना की थी। जिसके अनुसार पृथ्वी स्थिर है और सूर्य, चन्द्र व विविध ग्रह उसके चारों ओर घूमते हैं जिसे ईसाई धर्माचार्यों ने बाइबिल की मान्यता से समर्थित होने के कारण स्वीकार कर लिया था और इसे वे धार्मिक सिद्धान्त के समान सत्य मानने लगे थे। इस सिद्धान्त का प्रभाव 15वीं शती तक रहा। पर नक्षत्र विज्ञान और जीव विज्ञान में नयी खोज प्रारम्भ हुई जिसका बाइबिल के सिद्धान्त से मेल नहीं था। बाइबिल के अनुसार पृथ्वी चपटी है। पृथ्वी ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। और सूर्य पृथ्वी के चारों तरफ चक्कर लगाता है। सृष्टि का रचयिता प्रकृति से बाहर वास करता हुआ 'कुछ नहीं' से सब कुछ निर्माण कर देता है और स्वर्ग से अपनी आज्ञाएं प्रसारित करता रहता है। और मनुष्य के विषय में उनकी धारणा है कि ईश्वर ने मनुष्य को प्रारम्भ में ऐसा ही बनाया था जैसा वह आज है। उनकी तो मान्यता है कि मनुष्य को भगवान् ने अपनी आकृति-प्रकृति के अनुरूप बनाया। इसके विरुद्ध विज्ञान ने खोज की कि पृथ्वी गोल है। सूर्य स्थिर है। और पृथ्वी सूर्य के चारों तरफ चक्कर लगाती है। इसका विरोध पादरियों ने किया। उनके अनुसार अगर पृथ्वी गोल है तो नीचे के लोग उलटे कैसे खड़े होंगे और अगर वह घूमती है तो कयामत के दिन ईसा के आसमान से उतरने पर सब उसे कैसे देख सकेंगे? विज्ञान का विरोध दोनों सम्प्रदायों ने करना प्रारम्भ कर दिया।

1473 ई. में निकोलस कोपरनिकस द्वारा आधुनिक खगोलशास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ। उसने ग्रीक साहित्य के अनुशीलन विशेषकर अरिस्टाशंस के ग्रंथ

का पारायण एवं सूर्यमण्डल के ग्रहों का सूक्ष्म अध्ययन किया और अनेक प्राचीन सिद्धान्तों का खण्डन कर यह मत प्रतिपादित किया कि सूर्य ब्रह्माण्ड के केन्द्र में है तथा पृथ्वी सहित सभी ग्रह उसका चक्कर लगाते हैं। यह क्रान्तिकारी सिद्धान्त बाइबिल के विरुद्ध होने से अत्याचार के भय से अपने जीवनकाल में नहीं छपाया। उसकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित भी हुआ तो लैटिन भाषा में जो जन साधारण की भाषा नहीं थी। मात्र विद्वानों की भाषा रह गई थी। पर जब यह रहस्य उद्घाटित हुआ तो इसका विरोध पादरियों द्वारा प्रारम्भ हुआ। पर सोलहवीं सदी में अनेक विचारक हुए जिन्होंने इस मत का समर्थन किया। इसमें केपलर (1571 ई.-1630 ई.) और गैलेलियो (1564 ई.-1642 ई.) के नाम उल्लेखनीय हैं। केपलर जर्मन नागरिक था। गैलेलियो इटालियन था।

प्रयोगात्मक विज्ञान सर्वप्रथम गैलेलियो से प्रारम्भ होता है। 1609 ई. में गैलेलियो ने नक्षत्रों के अध्ययन के लिए टेलीस्कोप का विधिवत प्रयोग किया। उसने टेलीस्कोप द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि ब्रह्माण्ड में बड़े पिण्ड केन्द्र में रहते हैं और छोटे-छोटे उपग्रह उनकी परिक्रमा करते हैं। उसने यह भी कहा कि हमारी धरती गोल है और सूर्य की परिक्रमा करती है। यह मान्यता धर्माचार्यों को मान्य न होने से उसे अपराधी घोषित करके कारागार में डाल दिया गया। तब गैलेलियो ने राजा से प्रार्थना की कि उसे अपनी बात सिद्ध करने का एक अवसर दे। प्रथम में राजा ने धर्माचार्यों के प्रबल विरोध के कारण अनुमति नहीं दी पर बाद में दे दी।

रोम में विशाल टॉवर है। टॉवर के झुक जाने पर भी नहीं गिरने के कारण वह संसार के सात आश्चर्यों में से एक है।

गैलेलियो ने टेलीस्कोप की सहायता से टॉवर के ऊपर से ईसाई पादरियों को दिखाया कि एक ग्रह के चारों तरफ छोटे-छोटे उपग्रह बड़ी तेजी से घूम रहे हैं। इसी तरह पृथ्वी से कई गुणा बड़ा होने के कारण सूर्य ग्रह है और पृथ्वी उपग्रह है। और सूर्य के चारों तरफ परिक्रमा करने के कारण पृथ्वी गोल है।

ईसाई पादरी ने टेलीस्कोप से इस तथ्य को देखते हुए भी नहीं स्वीकारा और कहा, तुम्हारा यंत्र ही घूमता है और हमारी आंखों को धोखा देकर हमें ठगना चाहते हो। उसे पुनः कारागार में डाल दिया गया। और उसे अपनी स्थापनाएं वापस लेने तथा स्वयं की निन्दा करने को बाध्य किया गया। कोपरनिकस और गैलेलियो के समान अन्य भी अनेक विचारक इस समय यूरोप में उत्पन्न हुए। जो परीक्षणों के द्वारा सत्य की खोज कर नये-नये तथ्यों का पता करने में तत्पर थे। उस समय के ईसाई धर्माचार्य इनका न केवल उपहास करते थे, अपितु उन्हें धर्मद्रोही और काफिर समझते थे। इन्हें चर्च की ओर से भयंकर दण्ड दिये गये। ब्रूनो (Bruno)

को चौराहे पर जीवित जलाया गया। जीनो (zeno) नामक दार्शनिक, वैज्ञानिक को घर समेत फूंक दिया। हियोकिया नामक रोमन महिला को ज्यामिति पढ़ाने के अपराध में नंगा करके, रोम के बाजारों में कोड़े मार-मार कर मार डाला गया। 1481 ई. में विज्ञानवादियों का दमन करने के लिए ईसाइयों ने Court of inguistion नाम की विशेष अदालत स्थापित की थी, जिसमें ईसाई मत के विरुद्ध विज्ञान के किसी सिद्धान्त का प्रचार करने वाले वैज्ञानिकों पर अभियोग लगाकर उन्हें सजा दी जाती थी। यही नहीं, नाना तरह की यंत्रणाएं देकर उनसे स्वीकार कराया जाता था कि उनका सिद्धान्त झूठा है। जो स्वीकार नहीं करते थे, उन्हें जीते जी जला दिया जाता था। उक्त अदालत की आज्ञा से प्रथम वर्ष में ही 2000 विद्वान् जलाये गये। अदालत का अध्यक्ष 'तारकी माडा' नामक व्यक्ति 18 वर्षों तक रहा। इसके समय 10,220 और उनके भक्त जीते जी जलाये गये और 87,327 मनुष्यों को अन्य प्रकार के दण्डों से दंडित किया गया। इस प्रकार ईसाइयत के अंधविश्वास ने पश्चिम में विज्ञान का गला घोंट कर रखा। करीब अरस्तू एवं आर्किमिडिज के काल से लेकर ब्रिटिश वैज्ञानिक न्यूटन के काल तक (लगभग दो हजार वर्षों तक) पश्चिम में विज्ञान मृतप्राय हो गया था। तब भी भारत में उच्चकोटि की वैज्ञानिक प्रगति जारी थी। भारत में आर्यभट्ट, वराहमिहिर, भास्कराचार्य, जीवक वैद्य, वैद्यराज चरक, सुश्रुत (शल्य चिकित्सक), शालिहोत्र, बोधायन, लगथ, मेधातिथि, ब्रह्मगुप्त, नागार्जुन, उमास्वाति जैसे महान् वैज्ञानिक विश्व को ज्ञानालोक बांट रहे थे। पृथ्वी गोल है यह गैलेलियो के पूर्व पश्चिम के लिए तो अज्ञात था वहीं भारत की वैदिक परम्परा में ही भूगोल (भूमि गोल), खगोल, ब्रह्माण्ड, अखण्डमण्डलाकार शब्द भारत को विज्ञान का जनक घोषित कर रहे हैं।

इस प्रकार विज्ञान की शोधों एवं वैज्ञानिकों पर किये गये अत्याचार के कारण विज्ञान धर्म से अलग ही नहीं हो गया वरन् धर्म का विरोधी हो गया।

हेगेल के वामपंथी विचारक डेविस, स्ट्रास, ब्रूनो, बोरे (Baure) तथा लुडविन फयूरबाख (Feurbach) ने बाइबिल का स्वतंत्र अध्ययन किया। इससे पूर्व दो विद्वानों ने बाइबिल का गंभीर अध्ययन करके यह परिणाम निकाला था कि ईसाइयत का आरम्भ एक कपोल कल्पना (Myth) से हुआ। फयूरबाख ने इससे भी आगे बढ़कर यह परिणाम निकाला कि भगवान् की वास्तविक सत्ता नहीं है यह केवल मनुष्य की आशाओं और अभिलाषाओं द्वारा की जाने वाली मनोरम मानसिक कल्पना है। इसका प्रभाव मानव मस्तिष्क और विचार पर पड़ा और इसके पश्चात् का ईसाई धर्म का इतिहास ही बड़ा कलंकित है। ईसाई धर्मावलम्बी व्यक्ति में ईसा प्रेरित मनुष्य का बहुत कम, शैतान प्रेरित मनुष्य का दर्शन ही

अधिक हुआ। इसलिए तो H.G. Wells ईसाइयत के सारे इतिहास का सर्वे करते हुए कहते हैं—

सच्चा ईसाई एक ही हुआ है और वह स्वयं ईसा मसीह थे जिसे सूली पर लटकना पड़ा।

इस प्रकार धर्म से विज्ञान अलग हो गया और विज्ञान को किसी भी प्रकार से धर्म से सम्बन्ध रखना नागवार लगने लगा जो कि ईसाइयों द्वारा वैज्ञानिकों पर हुए अत्याचारों के कारण स्वाभाविक था। एक समय तो ऐसा आया कि पश्चिम का विज्ञान कह रहा था यदि ईश्वर की सत्ता है तो उसे अपने अस्तित्व का प्रमाण वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में आकर उसकी परखनली में देना होगा।

लाप्लॉस नामक वैज्ञानिक ने पुस्तक लिखी कि सम्पूर्ण विश्व कैसे चलता है? उसकी एक प्रति नेपोलियन को भेंट की। नेपोलियन ने उस पुस्तक को पढ़ने के बाद कहा, 'लाप्लॉस महाशय! मैं सारी पुस्तक पढ़ गया पर कहीं भी आपने भगवान् का उल्लेख नहीं किया है।' उसने कहा, 'मुझे इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ी।' विज्ञान की विभिन्न शाखाओं द्वारा समस्त सृष्टि की, विकासवाद के द्वारा समस्त जीव सृष्टि की व्याख्या हो जाती है।

न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण एवं गति के सिद्धान्त के आधार पर विश्व की यांत्रिक व्याख्या प्रस्तुत की। उसके अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि एक नियमबद्ध यंत्र है जो कार्य-कारण नियम से चल रहा है। जिसमें किसी प्रेरक शक्ति या ईश्वरीय शक्ति का हाथ दृष्टिगोचर नहीं होता है। इस सिद्धान्त का उस समय के वैज्ञानिकों पर विशेष प्रभाव पड़ा। उन वैज्ञानिकों ने सृष्टि की लम्बाई, चौड़ाई, वजन, आकार आदि निश्चित करके जन्म-मरण तथा साम्राज्य के उत्थान-पतन की भी प्रकृति के यांत्रिक नियम से व्याख्या करने का प्रयास हुआ। प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स ने अपनी 'Mysterious universe' नामक पुस्तक में इन वैज्ञानिकों के द्वारा निर्माण किये गये दृष्टिकोण का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। वे कहते हैं—सारे भौतिक विश्व को एक यंत्र के रूप में मानने की एक प्रवृत्ति शुरू हुई जो प्रबल होती गई। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के पश्चात् में वह पराकाष्ठा तक पहुंच गई। उसी समय हेल्म होल्टस ने यह घोषणा की थी कि 'सारे प्रकृति विज्ञान (या भौतिकवाद) का अन्तिम यंत्र विज्ञान (या यंत्र युग) के रूप में परिणत होना है। और लार्ड केल्विन ने तो यह भी कह दिया कि वे ऐसी किसी बात को नहीं समझ सकते जिसका वे यांत्रिक मॉडेल न बना सकें। प्रकाश व गुरुत्वाकर्षण को भी यांत्रिक गुणों वाला सिद्ध करने की चेष्टा हुई पर सफलता नहीं मिली। सफलता के अभाव में यह विश्वास अटल रहा कि अंत में विश्व की यांत्रिक व्याख्या सम्भव हो सकेगी। ऐसा मालूम हो रहा है कि केवल अधिक परिश्रम से ही सारी जड़ प्रकृति ठीक-ठीक कार्य करने

वाले एक यंत्र के रूप में प्रकट की जा सकेगी। ऐसा इसलिए सम्भव हुआ क्योंकि प्राचीन काल के वैज्ञानिक पदार्थ का अध्ययन ऐसे बड़े टुकड़ों पर ही करते थे जो सीधे इन्द्रियगोचर होते थे। उसमें लाखों-करोड़ों अणु विद्यमान थे जिनका आचरण निश्चय ही यंत्र जैसा था। परन्तु उसके आधार पर निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता था कि पृथक्-पृथक् अणुओं का आचरण भी इसी प्रकार यंत्रवत होगा। यह तो सभी जानते हैं कि किसी जन समूह के आचरण और उस पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के आचरण में भारी अंतर होता है। पृथक्-पृथक् अणुओं, परमाणुओं, इलेक्ट्रॉन के आचरण का अध्ययन पहले-पहल उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में ही सम्भव हो सका। उसी शताब्दी के अन्तिम महिनों में बर्लिन के मैक्सप्लांक ने विकिरण की कुछ ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की जो न केवल अयांत्रिक थी वरन् किसी यांत्रिक विचार पद्धति से उसका सम्बन्ध जोड़ना असम्भव मालूम पड़ा। बाद में विकसित होकर 'क्वांटम सिद्धान्त' के रूप में परिणत हुई और दूसरा सिद्धान्त बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में आइंस्टीन ने सापेक्षतावाद का प्रस्तुत किया। इन दोनों सिद्धान्तों से मशीनी ब्रह्माण्डवाद की जड़ें हिल गई।

क्वांटम सिद्धान्त के अनुसार जब किसी पदार्थ या पिण्ड (सूर्य आदि) में अत्यधिक ताप (Heat) के फलस्वरूप जो विकिरण पैदा होती है वह अटूट प्रवाह के रूप में न होकर पृथक्-पृथक् सूक्ष्म कणों के रूप में होती है, जिसे क्वांटम कहते हैं। विकिरण का प्रवाह विच्छेदयुक्त, सर्पगति से न होकर मंडूक गति से होता है। इससे कार्य-कारण की श्रृंखला टूट जाती है। कारण-कार्य के नियम के अनुसार विकिरण की गति अबाध रूप से, बीच में व्यवधान रहित, विच्छेद पड़े बिना निरन्तर चलती रहनी चाहिए। क्योंकि कारण-कार्य की श्रृंखला में पहला कदम (कारण) अगले कदम कार्य को उत्पन्न करेगा। वह कार्य फिर कारण बनकर अगले कार्य को उत्पन्न करेगा। यह श्रृंखला आगे बढ़ती जाएगी। परन्तु ऐसा होता नहीं है। विकिरण की प्रवाह की गति में अबाध के स्थान पर विच्छेद पड़ जाता है। वहां विकिरण के प्रवाह का कोई निशान नहीं होता है, शून्य होता है, कुछ नहीं होता है। विकिरण कूद-कूद कर चलता है, बीच में टूट जाता है, फिर चल पड़ता है। कारण-कार्य के नियम के अनुसार बीच में जो आवश्यक लगातार गति बनी रहनी चाहिए वह टूट जाती है। इस बात को इस तरह समझ सकते हैं कि सर्प की गति हर स्थान को छूती हुई चलती है। उसकी गति में निरन्तरता है। मेढक की कुदान एक भिन्न प्रकार की गति है जिसमें मेढक हर स्थान को छूता हुआ नहीं चलता। कूदकर, बीच में चार-पांच हाथ के स्थान में कोई सम्पर्क स्थापित किये बिना नये स्थान पर पहुंच जाता है। इसे संस्कृत में 'मंडूक प्लुप्ति' कहते हैं। विकिरण की भी गति मंडूक की तरह होती है। इससे कारण-कार्य की श्रृंखला खंडित हो जाती है।

प्रो. प्लांक के सिद्धान्त के आधार पर जो नई खोज हुई है उसके अनुसार 'रेडियेशन' में अगर 'क' को हम 'ख' का कारण कहें तो 'रेडियेशन' के प्रयोगों से ज्ञात हुआ कि 'क' के पीछे 'ख' आता तो है परन्तु यह बात निश्चित नहीं है 'क' के पीछे 'ग' भी आ सकता है 'घ' भी आ सकता है। अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि 'क' के पीछे 'ख' के आने की ज्यादा सम्भावना (Probability) है, अनिवार्यता नहीं है। इस दृष्टि से 'क' के पीछे 'ख' का आना अनिवार्य नहीं। तब कारण-कार्य का नियम अटूट नहीं रहता।

आइंस्टीन ने अपने अनुसंधान द्वारा क्वांटम को और व्यापक रूप प्रदान किया। उसके अनुसार सिर्फ विकिरण ही नहीं पदार्थ के अन्य नाम-रूप भी पृथक्-पृथक् कणों के रूप में आगे चलते हैं। प्रकाश, ऊर्जा, ताप, चुम्बकीय तरंगें, एक्स-रे, गैस, वायु, रंग-रूप, स्वाद, गंध आदि। शक्तियां भी आकाश में अलग-अलग सूक्ष्म कणों के रूप में चलती है। यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त विज्ञान में फोटो-विद्युत् प्रभाव के नाम से प्रसिद्ध है। जिस पर आइंस्टीन को नोबेल पुरस्कार मिला। पर यह फोटो विद्युत् नियम, प्रचलित तरंग सिद्धान्त से टकरा गई जिसके अनुसार प्रकाश का निर्माण तरंगों से होता है। वास्तव में प्रकाश के सम्बन्ध की कुछ ऐसी बातें हैं जिसकी व्याख्या तरंग सिद्धान्त से ही हो सकती है। और वस्तुतः इस मौलिक प्रश्न का उत्तर अब तक नहीं मिला कि प्रकाश तरंगों से बना है या कणों से? इससे वास्तविक प्रकृति के विषय में एक बड़ी उलझनपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गई है। जिसके फलस्वरूप प्रकृति के घटना-चित्रों में 'अनिश्चयवाद' का समावेश हो जाता है जिनकी व्याख्या सिर्फ गणितीय संकेतों के द्वारा ही हो सकती है।

जीन्स अपनी पुस्तक The Mysterious Universe में कहते हैं कि जब हम परमाणुओं और इलेक्ट्रॉन कणों का बड़े-बड़े समूह के रूप में अध्ययन करते हैं तो निश्चयवाद का औसत गणितीय नियम लागू हो जाता है जिसे पूर्ववर्ती भौतिक शास्त्र पकड़ नहीं पाया अथवा उस रहस्य को समझ नहीं पाया। उदाहरण के लिए एक सिक्का हवा में उछाला जाय तो यह निश्चित नहीं है वह चित गिरेगा या पट। लेकिन यह विचित्र बात है कि यदि लाखों टन सिक्के एक साथ उछालें जाय तो विज्ञान के अनुसार उनमें से आधे चित होंगे और आधे पट होंगे। इस प्रयोग को सैकड़ों बार दोहराया जाय तो भी वही फल प्राप्त होगा। यहां जीन्स का तात्पर्य यह है कि कुछ थोड़े परमाणुओं पर अनिश्चयवाद का नियम लागू होता है। जबकि असंख्य परमाणुओं के समूह पर निश्चयवाद का गणितीय नियम लागू हो जाता है। सर जेम्स जीन्स अपनी पुस्तक New world of Modern Physics में लिखते हैं—कारण-कार्य के नियम के स्थान पर अनिश्चितता के सिद्धान्त के कारण हम नहीं कह सकते कि किस कारण के पीछे कौन-सा कार्य अवश्यंभावी

रूप में आयेगा। यह बात शायद परमात्मा के ही हाथ में हो। भले ही वह किसी तरह का परमात्मा है।

इसे व्यावहारिक उदाहरण से स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं—वस्तुविशेष या व्यक्तिविशेष के व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि वह कब, किस तरह का व्यवहार करेंगी। भीड़ या व्यक्तियों और वस्तुओं के समुदाय के बारे में तो फिर भी अनुमान लगाये जा सकते हैं और करीब-करीब सही होते हैं। लेकिन व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष के सम्बन्ध में अनुमान लगाना तो दूर रहा, कल्पना तक नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए मुम्बई, कोलकाता, दिल्ली, चेन्नई जैसे शहरों में प्रतिदिन दस-पांच दुर्घटनाएं होती हैं। 20-25 व्यक्ति इन दुर्घटनाओं में मारे भी जाते हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि एक वर्ष में तीन-चार हजार दुर्घटनाएं होंगी और पांच-सात हजार व्यक्ति मरेंगे। इस तरह के आंकड़े इकट्ठे किये भी जाते हैं। इनकी घोषणा भी की जाती है कि इस वर्ष इतनी दुर्घटनाएं घटने की सम्भावना है। ये आंकड़े करीब-करीब सही होते हैं। लेकिन व्यक्तिविशेष या वाहनविशेष के सम्बन्ध में विचार किया जाये कि वह किसी दुर्घटना का शिकार होगा अथवा नहीं। तो इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि इन दुर्घटनाओं में से कौन-सी दुर्घटना किस व्यक्ति के साथ या किस वाहन से घटेगी।

इस प्रकार क्वांटमवाद पुरातन विज्ञान के दो आधार स्तम्भों कारण-कार्यवाद तथा निश्चयवाद को समाप्त कर देता है।

सापेक्षतावाद—अलबर्ट आइंस्टीन ने अपने सापेक्षता के सिद्धान्त द्वारा विज्ञान जगत् में एक अभूतपूर्व भूकम्प मचा दिया। उसके अनुसार विज्ञान ने अभी तक जो कुछ खोजा है, वह सापेक्ष ज्ञान ही है। निरपेक्ष सत्य का ज्ञान नहीं। सापेक्ष का भाव यह है कि वह तथ्य या तथ्यों पर आधारित सिद्धान्त है, किसी दूसरे तत्त्व या सिद्धान्त की अपेक्षा करता है। यदि अपेक्षित तथ्य या सिद्धान्त अशुद्ध या त्रुटिपूर्ण निकलता है तो उस पर आधारित सिद्धान्त भी त्रुटिपूर्ण होगा। विज्ञान ने आज तक जो कुछ खोजा है वह किसी न किसी तथ्य-सिद्धान्त को ठीक मानकर उस पर आधारित है। यदि आधार स्वयं अशुद्ध है तो आधेय अपने आप अशुद्ध हो जायेगा। विज्ञान में आधार-आधेय का सापेक्ष-सापेक्षित का अन्तहीन तारतम्य चल रहा है। इसलिए विज्ञान उस मूल आधार को नहीं जान सकता जो स्वयं सत्तावान है और किसी अन्य पर आधारित नहीं है। किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता है। निरपेक्ष-स्वयंभू सत्य है।

सामान्य व्यवहार में पति-पत्नी, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा सभी सापेक्ष सम्बन्ध हैं। वे अन्योन्याश्रित हैं। इसी प्रकार निरपेक्ष लम्बाई, मोटाई,

ऊंचाई विज्ञान की पकड़ के बाहर है। इसलिए विज्ञान का सारा मापन सापेक्ष है। हलकापन, भारीपन भी सापेक्ष है। इसलिए विज्ञान का सारा तोलन सापेक्ष है। धरती पर व्यक्ति का भार दो-ढाई मन होगा, वह चन्द्रमा पर भार विहीन होकर आकाश में उड़ने लगता है। इसलिए विज्ञान का Law of gravitation (न्यूटन), Specific gravity (आर्कीमिडिज), Atomic Weight आदि सभी सिद्धान्त सापेक्ष रह जाते हैं। इनमें से कोई-सा भी ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो सारे विश्व में सब परिस्थितियों में, सब ग्रहों में, सब देशों में, सब कालों में सत्य सिद्ध हो सके। आइंस्टीन ने सिद्ध किया कि गति, स्थिरता एवं न्यूटन के गति के सिद्धान्त सभी सापेक्ष हैं। आइंस्टीन ने दिक्-काल को भी सापेक्ष सिद्ध किया। गणित का सारा ज्ञान-विज्ञान भी सीमित एवं सापेक्ष है।

आइंस्टीन के सापेक्षतावाद के सिद्धान्त से वैज्ञानिकों के अहंभाव को एक बड़ा धक्का लगा और उनको यह अनुभव होने लगा कि उनकी अब तक की सारी साधना परम सत्य, पूर्ण अनन्त सत्ता की खोज के लिए नितान्त व्यर्थ हुई। प्रकृति के बहिरंग के कुछ तथ्यों, सिद्धान्तों का अपूर्ण सापेक्ष अध्ययन मात्र ही हो सका है।

रसायनशास्त्र की दृष्टि से विश्व का स्वरूप—पहले वैज्ञानिक वस्तु के छोटे-छोटे टुकड़ों पर अध्ययन करते थे जिसमें लाखों-करोड़ों Molecule मिले रहते थे। यह अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टि से शुद्ध न था। क्योंकि जैसे व्यक्ति का एकांत व्यवहार उसके भीड़ के व्यवहार से भिन्न होता है, उसी प्रकार एक Molecule का गुण लाखों Molecule के समूह के गुण से भिन्न होगा।

Molecule Theory—जिसमें कोई वस्तु प्रकृति में टिक सकती है जैसे पानी जिसमें हाइड्रोजन के दो Molecule तथा ऑक्सीजन का एक Molecule मिलकर पानी बनता है और पानी, पानी के रूप में टिक सकता है।

Atomic Theory—जिसमें Molecule को पुनः Atom में विभाजित किया जा सकता है। जैसे हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, लोहा, सोना, रेडियम, यूरेनियम, आदि हैं।

Elements of Atomic Weight—जिसमें प्रत्येक तत्त्व का Atomic weight या Number खोजा गया। Atomic weight या Number में परिवर्तन करने से अन्य तत्त्व में परिवर्तित हो जाता है।

Nuclear Theory—जिसमें Atom को पुनः इलेक्ट्रॉन-प्रोटोन में तोड़ा गया। प्रोटोन नाभिक के केन्द्र में रहता है। इलेक्ट्रॉन उसके चारों तरफ बड़ी तीव्र गति से घूमता है। विज्ञान की खोज के अनुसार इलेक्ट्रॉन-प्रोटोन तथा न्यूट्रॉन आदि भी भौतिक कण न होकर अन्ततोगत्वा वैद्युतिक शक्ति तरंगों के पुंज के रूप में ही बचते हैं।

Radio Active Energy—इस प्रकार रसायन की दृष्टि से भी अन्त में Radio Active Energy ही बचती है। Matter Energy में और Energy Matter में रूपान्तरित हो सकती है। Energy में मैटर के कोई गुण नहीं बचते। बर्ट्रेण्ड रसेल कहते हैं Energism के सिद्धान्त से भौतिकवाद का महल सदा के लिए ढह गया। क्योंकि भौतिकवाद का महल जिन ईंटों पर और चूने पर खड़ा था वह कच्ची प्रमाणित हुई। Matter उसे कहते हैं जो वजन रखता है और स्थान घेरता है। Energy में ये दोनों गुण ही नहीं बचते। अत: Energy को कोई Spiritual माने या न माने भौतिकवाद का महल ढह चुका है।

अब प्रश्न उठता है कि उस Energy का स्वरूप क्या है—वह जड़ है या चेतन। इस पर वैज्ञानिकों में ऊहापोह चल रहा है। मार्क्सवादी एवं भौतिकवादी चिन्तक ऊर्जा का स्वरूप जड़ भौतिक ही मानते हैं। कुछ विचारक पदार्थ और ऊर्जा दोनों को सत्य मानकर द्वैतवादी विचार को मानते हैं और कुछ चोटी के वैज्ञानिक जिनमें सर जेम्स जीन्स, श्रोडिंजर, आइंस्टीन, ओपेनहाइमर, एडिंगटन तथा प्लांक आदि हैं। जो ऊर्जा के स्वरूप को चेतन मानने लगे हैं। आज विज्ञान वेदान्त की ड्योढ़ी में, मन्दिर के गर्भ-गृह में खड़ा है। जिस दिन Energy के चेतन स्वरूप की उपलब्धि कर लेगा उस दिन विज्ञान की स्वतंत्र सत्ता न रहकर दर्शन में रूपान्तरित हो जायेगा।

विश्व के वैज्ञानिक अध्ययन का सर्वेक्षण

रसायनशास्त्र में
↓
वस्तु
↓
Molecule (बड़े अणु)
↓
Atom-Elements
↓
प्रोटोन/इलेक्ट्रॉन
↓
Radio Active Energy

भौतिकी में
↓
वस्तु
↓
कण
↓
प्रकाश का कण
↓
प्रकाश की लहर
प्रकाश की रंगीन पट्टिका Spectrum
↓
प्रकाश ऊर्जा
↓
रेडियोधर्मी ऊर्जा

भौतिकी, रसायन-शास्त्र एवं सापेक्षतावाद के प्रकाश में विश्व की व्याख्या के तीन दार्शनिक निष्कर्ष निकलते हैं जो अद्वैत वेदान्त के सर्वथा अनुकूल हैं।

(क.) जब Quantum Theory आयी, विज्ञानी जब अंत:पारमाणविक जगत् में पहुंचे अर्थात् परमाणु के अन्दर क्या हो रहा है इसे आंक कर (Sub atomic world); झांक कर देखने का प्रयास किया तो उन्होंने देखा कि आजतक सूक्ष्मतम माने जाने वाले परमाणु के अन्दर भी छोटे-छोटे कई प्रकार के विद्युत् कण हैं जिन्हें इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन, टेट्रोन, न्यूट्रोन, हेड्रोन आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। इनके अकल्पनीय गति से घूमने, जुड़ने, बिछड़ने, नष्ट होने, पुनः जन्म लेने आदि बातों का जब उन्होंने अध्ययन किया तो वे अवाक् रह गये। वहां की वस्तुस्थिति का वर्णन करने में विज्ञानी अपने-आपको असमर्थ पाते हैं। न तो वे ये बता पाते हैं कि 'इस समय' क्या हो रहा है और न ये बता पाते हैं कि आगे क्या होगा। वहां एक विचित्र प्रकार की द्वंद्वात्मक स्थिति का उन्हें अनुभव होता है। ओपनहाइमर जिसने प्रथम अणु बम का विस्फोट किया था, कहता है कि अगर हमसे कोई पूछे कि क्या इलेक्ट्रोन्स स्थिर है? तो हम कहेंगे 'नहीं' और यदि कोई पूछे कि क्या वे चलायमान हैं? तो भी हम कहेंगे 'नहीं'। यदि किसी ने पूछा, क्या वे शाश्वत हैं? तो हमारा उत्तर होगा 'नहीं'। और यदि किसी ने पूछा कि क्या परिवर्तनशील हैं? तो भी हमारा उत्तर रहेगा 'नहीं'। कोई पूछे कि क्या वे केवल तरंगें हैं? तो हम कहेंगे 'नहीं' और किसी ने पूछा कि क्या वे ऊर्जापुंज है? तो भी हमारा उत्तर होगा 'नहीं'। कभी तो ये विद्युत् कण तरंगों जैसा व्यवहार करते हैं तो कभी ऊर्जापुंज जैसा। अर्थात् अनिर्वचनीय स्थिति है।

ऐसा ही कथन 'माया' (प्रकृति) के संदर्भ में आद्य जगद्गुरु शंकराचार्यजी करते हैं—यह अव्यक्त नाम वाली, त्रिगुणात्मिका, जगत् रूपी अपने कार्य में अनुमेय, न सत् न असत्, न उभय रूप, न भिन्न, न अभिन्न, न उभय रूप, न अंगसहित, न अंगरहित, न उभय रूप है किन्तु अत्यन्त अद्‌भुत, अनिर्वचनीय रूपा है।

इसी को सर विलियम ब्राग ने इसमें कहा था कि ऋणात्मक विद्युत् कण हर सोमवार, बुधवार, शुक्रवार को तरंग से दीख पड़ते है और मंगलवार, गुरुवार शनिवार को कणों के रूप में दिखलायी पड़ते हैं।

इसलिए एक मसखरे ने इसे कण-तरंग की संज्ञा दी।

इन्द्रिय या यंत्र के द्वारा सृष्टि का ठीक-ठीक मूल स्वरूप नहीं जाना जा सकता क्योंकि इस ज्ञान की सीमाएं हैं। इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं यंत्रों से वस्तु जगत् में सत्य न देखकर केवल छायाचित्रों को ही देखता है और भ्रमवश उसी को सत्य मान लेता है। सर जेम्स जीन्स ने प्लेटो के रिपब्लिक का निम्न रूपक देकर कहा है कि भौतिक विज्ञान का ज्ञान केवल सांकेतिक है, सत्य नहीं है। कुछ कैदी एक ही पंक्ति में इस प्रकार शृंखलाबद्ध हैं कि वे केवल सामने ही देख सकते हैं। उनके पीछे अग्नि जल रही है। उनके और अग्नि के बीच में मंच

पर व्यक्ति आ-जा रहे हैं। कैदियों को सामने की दीवार पर केवल उनकी छाया ही दिखलाई देती है, असली व्यक्ति दिखलाई नहीं देते। इस उपमा में जीन्स ने भौतिक वैज्ञानिकों को उन शृंखलाबद्ध कैदियों के समान कहा है जो सत्य को नहीं देखते पर उनकी मंद-मंद छाया मात्र को ही सत्य मान लेते हैं। सभी वैज्ञानिक इस बात पर एकमत हैं कि वे इस जगत् के व्यापार को समझते नहीं और शायद कभी समझ भी नहीं सकेंगे। वर्तमान ज्ञान की प्रगति आइन्स्टीन के अनुसार एक जटिल समस्या में से सम्भवतः दूसरी जटिल समस्या उत्पन्न करने के समान ही है। विज्ञान इस यथार्थ के कारण सर्वथा किंकर्तव्यविमूढ हो गया है कि इस भौतिक संसार का प्रत्येक रहस्य अपने से परे एक और रहस्य की ओर संकेत करता दीखता है।

स्पष्ट है कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि और यंत्रों के द्वारा परम सत्य या यथार्थ जगत् को नहीं समझते। विज्ञान की इस सीमा को जानकर बहुत से वैज्ञानिक दर्शन की ओर झुके और वैज्ञानिक के साथ-साथ दार्शनिक बन सृष्टि के मूल में चेतन सत्ता को स्वीकारने लगे हैं। इन्द्रियज्ञान की सीमा को समझने के कारण बहुत से वैज्ञानिक अन्तःप्रज्ञा (Intuition) की बात कहने लगे हैं। मानव की चेतना को भी एक पैरामीटर की तरह जोड़ना होगा तभी ज्ञान सम्भव होगा। क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु आपस में जुड़े हुए हैं। प्रथम में वैज्ञानिक एक वस्तु को अन्य वस्तु से पृथक् मानकर अध्ययन व परीक्षण कर रहे थे। पर अब वे इस निष्कर्ष पर पहुंच रहे हैं कि इस अखिल ब्रह्माण्ड में सब कुछ परस्पर जुड़ा है, परस्पर निर्भर, एक-दूसरे से सम्बन्धित एवं परस्पर पूरक है। अतः ज्ञान की पूर्णता के लिए मानव-चेतना को भी एक पैरामीटर की तरह उसमें सम्मिलित करना होगा।

(ख.) भौतिकी विश्व आभास का क्षेत्र है यथार्थ का नहीं। यथार्थ उसकी पृष्ठभूमि में है, जिसे विज्ञान नहीं जान सकता है। अर्थात् विश्व की व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक यथार्थ सत्ता नहीं है।

एक सामान्य व्यक्ति के लिए यह संसार रूप-रंग, ध्वनि, ताप आदि का समन्वित स्वरूप है। किन्तु एक आधुनिक वैज्ञानिक की दृष्टि में यह सृष्टि रंग-रहित, गंधरहित, ध्वनिरहित है। उसकी दृष्टि में प्रकृति में वस्तुतः द्रव्य है ही नहीं। वह सिर्फ दिक्-काल का और विद्युत् प्रवाहों का ऐसा विस्तार है जिन्हें सम्भावनाओं की अज्ञात तरंगों के द्वारा ही वर्णित किया जा सकता है अर्थात् ऐसी तरंगों का खेल है यह संसार जिनमें अनन्त सम्भावनाएं विद्यमान हैं और जिसका मूल स्वरूप अज्ञात है। यह ठोस दिखने वाला विश्व जब भलीभांति विश्लेषित किया जाता है तो एक ऐसे रहस्यमय परिमाण का रूप लेता है जिसका वर्णन असम्भव है। कुछ गणितीय प्रतीकों द्वारा संकेतमात्र दिया जा सकता है।

आर्थर एडिंगटन ने 'नेचर ऑफ फिजिकल वर्ल्ड' (भौतिक संसार का स्वभाव) पुस्तक में अपने काम में आने वाली मेज का उदाहरण दिया है। एक तो वह पुराने जमाने की मेज है। जिस पर लिखते समय लेखक की कुहनी जमी हुई है और दूसरी पदार्थ की बनावट के बारे में। भौतिक-शास्त्र की खोज से मेल खाती मेज है जो अस्तित्वहीन है, सूने पड़े क्षेत्र में कुछ छोटे-छोटे कणों से बनी है। और ये छोटे-छोटे कण भी विलक्षण हैं। वे एक यष्टि के चारों ओर घूमते ऋणात्मक विद्युत्कण है। उन विद्युत्कणों की दूरी उस यष्टि से निज के आकार से भी लाखों गुना अधिक है और उनके बीच का हिस्सा सर्वथा खाली है। इन छोटे-छोटे कणों को छोड़कर परमाणु का शेष सारा अंतःस्थल तो खोखला है। ऐसे खोखले परमाणुओं से बनी दूसरी मेज की कल्पना एडिंटन ने की। एडिंटन ने निष्कर्षात्मक रूप में कहा, 'भौतिकी के संसार में हम सर्वथा परिचित जीवन का छायारूप ही देखते हैं। छायारूप कागज पर छायारूप स्याही से लिखा जा रहा है, छायारूप मेज पर छाया रूप ही केहुनी (कुहनी) विराजमान है। भौतिकशास्त्र पूरी तौर पर छाया संसार का ही व्यापार है।

इस प्रकार इस भौतिक विश्व का पूरा ढांचा नाना रूपों, नाना वेशों वाली नक्षत्रमालाओं, पर्वत श्रृंखलाओं, नर-नारियों, पशु-पक्षियों, प्राणियों और वस्तुओं से भरपूर, ध्वनियों और रंगों, ताप और गंध से भरपूर यह पूरा का पूरा ढांचा अन्तिम विश्लेषण में मात्र विद्युत् प्रवाहों अथवा अन्तिम शून्य आकाश यानी अनन्त सम्भावनाओं से भरी तरंगों का समुच्चय मात्र रह जाता है। 'मैटर' रह ही नहीं जाता। ठोस दीखने वाला यह संसार वाष्प की तरह उड़कर अदृश्य हो जाता है और वस्तुएं विलीन हो जाती हैं। बहुत्व की ओर बढ़ता-सा दीख रहा, विभिन्न रूपों और नामों में अभिव्यक्त हो रहा यह ब्रह्माण्ड एक ही अति सूक्ष्म मूल सत्ता में, शक्ति के उस मूल रूप में समाहित हो जाता है, जहां से कि उसका उद्गम होता है।

भारतीय मनीषी सृष्टि के मूल स्वरूप से हजारों वर्ष पूर्व से परिचित रहे हैं। वेदान्त की सृष्टि की व्याख्याएं आज भौतिकी के अनुसंधानों द्वारा भी प्रमाणित और पुष्ट हो रही हैं।

इस प्रकार आज विज्ञान भी यथार्थ एवं आभास का अन्तर कर भारतीय अद्वैत वेदान्त की मान्यता को स्वीकृत कर रहा है। वैज्ञानिकों द्वारा यथार्थ की यह परीक्षा कि सृष्टि की मूल सत्ता उस रूप में नहीं है जैसे कि व्यवहारतः हम जानते और मानते हैं। माया का अर्थ वेदान्त में इसी अर्थ में किया गया है कि जिसमें जो भासित होता है वह तत्त्वतः यथार्थ नहीं है। जगत् को इसी स्तर का माना गया है क्योंकि जैसा प्रतीत होता है वैसा है नहीं। इसको हम इस रूप में समझ सकते हैं कि वेदान्त के अनुसार जगत् है ही नहीं। ब्रह्म की ही सत्ता है। पर ब्रह्म की माया

शक्ति के कारण आवरण और विक्षेप से वह ब्रह्म को ढककर जगत् की प्रतीति कराती है। विज्ञान ने खोजा कि पदार्थ सत्य नहीं वरन् विद्युत् तरंग की सत्ता है। पर यह तरंग भी अपने मूल में क्या है? यह जान सकना बहुत कठिन हो गया है क्योंकि ये तरंग समूह वस्तुतः मूल सत्ता नहीं कही जा सकती। अपितु इलेक्ट्रॉनिक कार्य-विधि से इसकी हम को जो जानकारी मिली है उसी की मानसिक सरंचना है। इस तरह विज्ञान विद्युत् तरंग समूह या ऊर्जा तक पहुंच गया है। कुछ वैज्ञानिक ऊर्जा का स्वरूप चेतन मानने लगे हैं। पर जिस दिन यह सिद्ध हो जाएगा उस दिन विज्ञान विज्ञान न रहकर दर्शन में बदल जाएगा।

यह ध्यान रहे कि वैज्ञानिक यह कतई नहीं मानते कि विश्व कुछ है ही नहीं और सब शून्य है।

एडिंगटन ने 'न्यू पाथ वेज इन साइंस' नामक ग्रंथ में स्पष्ट कहा है कि मेरा तात्पर्य यह कथमपि नहीं कि भौतिक विश्व का अस्तित्व ही नहीं है। वस्तुतः भौतिक विश्व व्यवहारतः पूर्ण सत्य है। उसमें एक निश्चित व्यवस्था है। क्रमबद्धता है। अनिश्चय के सिद्धान्त का भी यह अर्थ नहीं कि इस दुनिया में सभी कुछ अनिश्चित है। इसके सर्वथा विपरीत वैज्ञानिकों और वेदान्तियों का यह मत है कि सृष्टि में सर्वत्र कार्य-कारण भाव विद्यमान है। प्रत्येक कार्य का एक निश्चित कारण है। अनिश्चय के सिद्धान्त से तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा हम सृष्टि की मूल सत्ता को पूरी तरह कभी नहीं जान सकते क्योंकि प्रयोग के उपकरण और माध्यम भी उसी सृष्टि के अंश हैं जिसका कि परीक्षण किया जा रहा है।

जब भौतिकी का आरम्भ हुआ, उसके हाथ की चीजें ठोस थी। पानी हवा की चोट से नीचे बहता था तथा वह गुरुत्वाकर्षण तथा हाइड्रोडायनिमिक्स के नियमों के अधीन था। किन्तु, वस्तुओं का यह ठोसपना माया के समान निस्सार निकला। तरल में से हमने ठोस तत्त्व परमाणु निकाला, फिर उसे इलेक्ट्रॉन में विभक्त कर दिया। किन्तु, इलेक्ट्रॉन बनते ही ठोस चीज हमारे हाथों से गायब हो गई। संतोष इतना ही है कि इलेक्ट्रॉन और प्रोटोन के रूप में चीजों का सूक्ष्मतम रूप अब भी वर्तमान है। किन्तु क्वांटम का सिद्धान्त इन्हें भी बहुत स्थूल समझता है। अतएव इनसे आगे वह हमें एक ऐसी जगह ले जा रहा है जहां गणित के प्रतीकों के सिवा और कुछ भी नहीं है। जो ठोस था वह गल कर शून्य हो गया और हम आकार का हिसाब निराकार के पट पर लिख रहे हैं। पंडित नेहरू के शब्दों में, 'ठोस दुनिया पिघलकर गणित का कोई विचार अथवा छलना बन गई है जो माया सिद्धान्त के बहुत ही समीप है।

(ग.) व्यावहारिक जगत् या ब्रह्माण्ड का मूल कारण सम्भवतः अति सूक्ष्म चेतन सत्ता है। इसे बहुत से वैज्ञानिक मानने लगे हैं। सर जगदीशचन्द्र बसु के

प्रयोगों On the Similarity of responses in inorganic and Living matter ने जड़ की सीमारेखा को ही समाप्त कर दिया है। विज्ञान पदार्थ को जड़ मानकर अनुसंधान करता रहा पर पदार्थ का विश्लेषण करते-करते वैज्ञानिक वहां तक पहुंच गए कि पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं बचा। जड़ की परिभाषा की जाती है जिसका वजन होता है, जगह घेरता है और निश्चित स्वरूप होता है। लेकिन पदार्थ का सूक्ष्मतम विश्लेषण करने पर यह परिभाषा ध्वस्त हो गई। Energism का सिद्धान्त सामने आया। फिर जड़ पदार्थ के सम्बन्ध में निश्चित धारणा थी कि अमुक परिस्थितियों का पदार्थ पर अमुक तरह का प्रभाव पड़ेगा और उस पर अमुक तरह की प्रतिक्रिया होगी। लेकिन इस सम्बन्ध में नवीन तथ्य सामने आये हैं और कहा जा रहा है कि सब कुछ अनिश्चित है। इस सम्बन्ध में हाइजनबर्ग के अनिश्चिततावाद की बड़ी चर्चा हुई। उनके अनुसार एक ही समय में एक साथ एक ही तरह के कण किस तरह का व्यवहार करेंगे, यह नहीं जाना जा सकता। कण विशेष की गति एवं परिस्थिति के सम्बन्ध में भी कुछ कह पाना सम्भव नहीं है। केवल अनुमान लगाया जा सकता है और अनुमान कोई सही निकले यह जरूरी नहीं है। अनेक प्रयोग किए गए कि किन परिस्थितियों में कौन से कण किस तरह का व्यवहार करते हैं? एक ही परिस्थिति में एक ही प्रक्रिया से एक ही तरह के कणों का हजारों बार अध्ययन किया गया। लेकिन यह जानकर हैरानी हुई कि प्रत्येक बार हर कण का व्यवहार अनुमान से भिन्न था। यही नहीं, पिछली प्रतिक्रिया भी नहीं दोहराई गई।

इस आधार पर घोषणा की गई कि पदार्थ की जैसी परिभाषा की जाती रही वैसा कोई पदार्थ इस जगत् में है ही नहीं। दूसरे शब्दों में, यह घोषणा की गई कि पदार्थ मर गया है। पहले कभी नास्तिकवादी विचारक नीत्शे की घोषणा थी कि ईश्वर मर गया है। लेकिन अब विज्ञान को घोषणा करनी पड़ रही है कि पदार्थ मर गया है। अब वैज्ञानिकों को यह कहना पड़ रहा है कि पदार्थ विज्ञान से बाहर भी एक अत्यन्त विशाल, दुरूह और अज्ञात क्षेत्र रह जाता है जिसे खोजने के अभी तक कोई उपाय नहीं ढूंढ़े जा सके हैं। लेकिन वह क्षेत्र विज्ञान की सभी ज्ञात धाराओं का मूलस्रोत और नियंत्रणकर्ता है।

वैज्ञानिक मैक ब्रॉइट का कथन है कि विश्व के परोक्ष में किसी ऐसी सत्ता के होने की पूरी और निश्चित सम्भावना है जो ज्ञानयुक्त और इच्छायुक्त हो। उसी के कारण विश्व की गतिविधियां अनियंत्रित और अनिश्चित रूप से चल रही हैं। डॉ. मोर्डल का कहना है कि अणु और पदार्थ के सूक्ष्मतम कणों के इस विचित्र व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि कोई चेतन शक्ति है अवश्य, जिसके प्रभाव से ही अणु अथवा कणों का स्वभाव पकड़ में नहीं आता। वह कौन-सी शक्ति है और किस

प्रकार काम करती है? उसके क्या नियम हैं? कैसे वह पदार्थ को प्रभावित करती है? आदि प्रश्नों का उत्तर विज्ञान के पास अभी नहीं है। इस सन्दर्भ में विख्यात वैज्ञानिक इगोल्ड का कथन है कि 'जो चेतना इस सृष्टि में काम कर रही है उसका वास्तविक स्वरूप समझने में अभी हम असमर्थ हैं। इस सम्बन्ध में हमारी वर्तमान मान्यताएं अधूरी, अप्रमाणित और असंतोषजनक हैं।'

सर जेम्स जीन्स, श्रोडिंजर, एडिंगटन, आइंस्टीन, प्लांक प्रभृति बहुत से वैज्ञानिक आभासमय जगत् के आदि कारण के रूप में चेतन सत्ता को स्वीकारने लगे हैं।

श्रोडिंजर ने स्वयं लिखा है—अब तत्त्वज्ञान के रहस्यवाद से दूर न रहकर मैं उनका पूरा उपयोग करूंगा। वे आगे कहते हैं—सीधे-सादे रूप में यह घोषणा करते हुए मुझे कोई हिचक नहीं कि समान वातावरण में जीवन के अनुभव की व्याख्या करने के लिए वास्तविक भौतिक संसार की स्वीकृति रहस्यात्मक और तात्त्विक है।

वेदान्त दर्शन की स्वीकृति करते हुए वे कहते हैं कि चिद्‌बिन्दु एक ही है। वे यह मानते हैं कि चिद्‌बिन्दुओं का सिद्धान्त वेदान्त दर्शन में परिणत हो जाता है।

इस दर्शन के अनुसार हम सभी चेतन प्राणी एक ही सत्ता के अनेक रूप हैं। वह 'एक' तत्त्व पाश्चात्य शब्दावली में God और उपनिषद् की शब्दावली में 'ब्रह्म' है। श्रोडिंजर लिखते हैं—अद्वैत सिद्धान्त के निम्नलिखित नैतिक निष्कर्ष हमें स्वीकारने चाहिए।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। 13/27, गीता

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।। 13/28, गीता

समस्त विनाशशील प्राणियों में समभाव से स्थित विनाशरहित परमेश्वर को जो देखता है वही (यथार्थतः) देखता है। क्योंकि सर्वत्र समभाव से अवस्थित ईश्वर को समरूप से देखने वाला अपने द्वारा अपने को नहीं मारता। इससे वह परम गति को प्राप्त होता है।

प्राणीमात्र के प्रति दया और करुणा के भाव यहां चरम लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उपनिषदों का अद्वैत सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि प्रत्यक्ष भेद माया है। मूलभूत एकता ही सत्य है।....साधना का क्रम अनेक जन्मों तक चलता है और अन्त में साधक को किसी एक जीवन में प्रज्ञा, अवकाश और शुद्ध साधना की इतनी मात्रा उपलब्ध हो जाती है जिससे वह अद्वैत सिद्धान्त ग्रहण कर मुक्त हो सके।

सर जेम्स जीन्स के अनुसार भौतिक जगत् का मूलरूप विचार-बुद्धियुक्त चेतन स्वरूप है। भौतिक जगत् की घटनाएं बिना किसी सिद्धान्त के मनमाने ढंग की नहीं हैं। उनमें सामंजस्य, एकरूपता तथा विश्वव्यापी अनुशासन है। उन्हें गणित की भाषा में व्यक्त किया जा सकता है। सर जेम्स जीन्स के शब्दों में—भौतिक जगत् की सामंजस्यपूर्ण घटनाओं का रचयिता कोई बुद्धियुक्त सत्ता है। वह महान् गणितज्ञ प्रतीत होता है जिसको परमेश्वर कहा जा सकता है। भारतीय वेदान्त दर्शन के अनुरूप जेम्स जीन्स मानता है कि समग्र विश्व का विराट् रूप तथा सूक्ष्म रूप चेतन स्वरूप ही है। समग्र जगत् परमेश्वर द्वारा रचित है। भौतिक जगत् और उसकी घटनाएं परमेश्वर के मन में प्रत्यय के रूप में विद्यमान रहती हैं। यह इस भारतीय मान्यता का समर्थन है कि सारी सृष्टि परमेश्वर के संकल्प से प्रकट हुई है। जेम्स जीन्स ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के आधारभूत स्वरूप में कोई अन्तर नहीं मानता। यह सभी चेतन स्वरूप है। चैतन्य की तीन विधाएं (रूप) हैं। इस प्रकार जेम्स जीन्स ने स्वयं वैज्ञानिक होते हुए भी विज्ञान के अन्तिम तार्किक निष्कर्ष में चैतन्य के प्रतिपादक प्रत्ययवाद अथवा भारतीय वेदान्त दर्शन का समर्थन किया है।

इसी तरह अनेक वैज्ञानिक सृष्टि में नियामक तत्त्व के अस्तित्व पर बल डाल रहे हैं। प्रमुख वैज्ञानिकों ने अपने लेखों के द्वारा यह विचार स्पष्ट किया है कि प्रकृति में व्यवस्था है, नियमों में सार्वभौमता है। विश्व में महान् अभिकल्प (डिजाइन) है तथा समग्र प्रकृति में एक प्रतिकृति (पैटर्न) है। जिससे यह सिद्ध होता है कि कोई एक अनन्त बुद्धि है जो विश्व में एक व्यवस्था रखती है तथा विश्व कोई स्वतंत्र यंत्र नहीं है वरन् इसका कोई हितकारी उद्देश्य है। यह विचार दो पुस्तकों का सार है जिनमें प्रमुखतम वैज्ञानिकों के लेखों का संकलन हुआ है। 'हैज साइन्स डिस्कवर्ड गॉड? ए सिम्पोजियम ऑफ मार्डन साइंटिफिक ओपीनियन' नामक पुस्तक में मिलिकन, मेथर, एडिंगटन, आइंस्टीन, जुलियन हक्सले, मैकडूगल, जीन्स आदि सोलह प्रमुख वैज्ञानिकों के विचारों का संकलन है तथा इसी प्रकार से 'द ग्रेट डिजाइन' में रोबर्ट ऐटकीन्स, लॉयड मोर्गन, सर आलिवर लाज, हेन्स डीश आदि चौदह प्रमुख वैज्ञानिकों के विचारों को संकलित किया गया है।

इसी प्रकार की एक पुस्तक The Evidence of God in Expending Universe में चालीस वैज्ञानिकों ने ईश्वरसम्बन्धी अपने विचार प्रकट किए हैं। इन वैज्ञानिकों में भौतिकविद् हैं, रसायनविद् हैं, प्राणीविद् हैं, भूगर्भविद् हैं, कृषि और वृक्ष-वनस्पतिविद् हैं, कीट और जन्तुविद् हैं, ज्योतिर्विद् हैं। और भी विज्ञान की अन्य अनेक शाखाओं के अध्येता और विशेषज्ञ हैं। सबका मूल स्वरूप प्रायः यही है कि उन्होंने विज्ञान की जिस-जिस शाखा का अध्ययन किया है, उसमें सर्वत्र उन्हें क्रम, व्यवस्था और इतनी सुघड़ नियमबद्धता दिखाई देती है कि वे मान ही नहीं सकते कि

यह संसार बिना किसी नियामक के, बिना किसी कर्ता के, बिना किसी व्यवस्थापक के स्वयमेव और अकस्मात् पैदा हो गया। वह नियामक, व्यवस्थापक और रचयिता ही परमात्मा है। यही इन सब वैज्ञानिकों का सर्वसम्मत निष्कर्ष है।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भ में वैज्ञानिक जगत् में जो अनेक बड़े धमाके हुए उनमें क्वांटमवाद और सापेक्षतावाद के अतिरिक्त एक ऐसा धमाका भी हुआ था जो महान् भारतीय वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र वसु (1858 ई.-1937 ई.) द्वारा यूरोप में किया गया। अपने प्रयोगों द्वार वसु ने यह सिद्ध कर दिया कि चेतना का संयोग पदार्थ के कण-कण से है तथा निर्जीव तथा सजीव पदार्थों के बीच वस्तुतः कोई सीमा रेखा नहीं है। दूसरे शब्दों में, बाह्य रूप से जो हमें जड़ दिखाई देता है वह आन्तरिक रूप से पूर्णतया चेतन है। यद्यपि इन्द्रियों द्वारा पदार्थ हमें जड़ दिखाई देता है लेकिन इन्द्रियों से परे वह पूर्णतया चेतन है। वेदान्त का यह सिद्धान्त 'चेतन सत्ता पत्थर में सोयी हुई, वनस्पतियों में ऊंघ रही है, पशुओं में स्वप्न ले रही है। वह मनुष्य में जागृत है। वसु द्वारा प्रमाणित हो चुकी है। सन् 1900 ई. में पेरिस की अन्तरराष्ट्रीय भौतिकी कांग्रेस में उन्हें सादर आमन्त्रित किया गया और उस कांग्रेस में उनके द्वारा जो शोधपत्र पढ़ा गया उसका शीर्षक इस प्रकार था—निर्जीव और सजीव पदार्थों के प्रत्युत्तर में समानता' (On the similarity of responses in inorganic and living matter)। वसु का यह सिद्धान्त भौतिकवादी विचारधारा पर प्रत्यक्ष प्रहार था। इस सिद्धान्त से यह प्रमाणित होता है कि चेतना से ही पदार्थ प्रतिभासित होता है ('तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति')। अपना शोधपत्र पढ़ते हुए वसु ने अन्त में कहा कि निर्जीव और सजीव पदार्थों के बीच कोई सीमा रेखा खींचना कठिन है क्योंकि हम यह नहीं कह सकते कि अमुक सीमा पर भौतिक प्रक्रिया समाप्त होती है और उस सीमा से जैविक प्रक्रिया शुरू होती है। दूसरे शब्दों में, निर्जीव और सजीव वस्तुतः एक ही तत्त्व है जो परस्पर एक में ही (प्रकृति और पुरुष) गुंथे हुए हैं। ('मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्र मणिगणा इव') वसु ने इस तथ्य पर जोर दिया कि हमें प्रकृति की भिन्नता में एकता का दर्शन होता है।

अध्यात्म के क्षेत्र में जो कार्य स्वामी विवेकानन्द ने किया, विज्ञान के क्षेत्र में वही कार्य सर जगदीशचन्द्र वसु द्वारा सम्पन्न हुआ।

नैतिक कारण—विज्ञान मूल्यनिरपेक्ष अध्ययन है। वैज्ञानिक उपलब्धियों का उपयोग किस प्रकार करेगा यह मानव के विवेक पर निर्भर करता है। विज्ञान न तो मानव मन का निर्माण कर सकता है और न दिशा दे सकता है। सर जेम्स जीन्स के शब्दों में—विज्ञान गूंगा और बहरा है। वह अपनी एक हथेली पर पेनिसिलिन और दूसरी पर परमाणु बम रखकर तुम्हारे पास आता है। अब यह तुम पर निर्भर

है कि तुम किसे पसन्द करते हो और उठाते हो। तात्पर्य यह है कि मानव चाहे तो विज्ञान द्वारा सारे विश्व का दु:ख, दैन्य, अशिक्षा को दूर कर सकता है और चाहे तो बटन दबाते ही सृष्टि का ध्वंस भी। अत: विज्ञान मानव मन को संस्कारित कर दिशा नहीं दे सकता। आइंस्टीन ने कहा था, 'विज्ञान प्लूटोनियम के स्वभाव को बदलने में सक्षम हो सकता है परन्तु मानव हृदय की दुष्प्रवृत्तियों को नहीं बदल सकता।' मैक्सिम गोर्की के शब्दों में—विज्ञान हमें पक्षियों की भांति उड़ना, मछलियों की भांति तैरना तो सिखा सकता है पर पृथ्वी पर मानव की भांति रहना नहीं सिखा सकता।'

हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि संस्कारित व्यक्ति (सज्जन) के पास विद्या अशिक्षा को दूर करने के लिए होती है। धन दूसरों की सेवा के लिए एवं शक्ति दुर्बलों की रक्षा के लिए होती है। पर असंस्कारित, दुर्जन व्यक्ति के पास विद्या अपने अहम् को बढ़ाने, धन दूसरों के शोषण के लिए और शक्ति दुर्बलों पर अन्यायपूर्ण शासन के लिए होती है। जब विज्ञान मन को संस्कारित नहीं कर सकता तब असंस्कारित मन द्वारा गलत पथ पर चलना स्वाभाविक है। असंस्कारित मन न स्वयं सुखी रह पाते हैं और न दूसरों को सुखी रहने देते हैं। विज्ञान ने जहां आधिभौतिक सुख-वैभव का अम्बार लगा दिया वहां उसने अपना आतंक जमाने के लिए अणु बम, परमाणु शक्ति को भी जन्म दिया। परमाणु शक्ति का उपयोग लोक कल्याण के लिए भी हो सकता है। पर असंस्कारित मन ने दुरुपयोग किया जिसकी विभीषिका प्रथम विश्वयुद्ध, द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में चल पड़ी जिससे विश्व के मनीषियों को बड़ा धक्का लगा और उन्हें आत्म मंथन के लिए, आत्म परीक्षण के लिए बाध्य कर दिया। प्रसिद्ध इतिहासकार एवं दर्शन के तत्त्ववेत्ता स्पेन्गलर ने मानवीय तथा आध्यात्मिक मूल्यों की कब्र पर उपजी पाश्चात्य सभ्यता के पतन की भविष्यवाणी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Decline of the West (पश्चिम के पतन) में की। सन् 1969 में क्लब आफ रोम में वैज्ञानिकों ने इस ओर दुनिया का ध्यान खींचा था। फिर से क्या मानव प्रस्तर युग में प्रवेश करे? March of India में प्रकाशित India and Europe लेख में श्री हडाधानी लिखते हैं—यूरोप में आज तत्परता के साथ आत्मपरीक्षण चल रहा है और जिज्ञासु व्यक्तियों के मन में अनेक प्रश्न उठ रहे हैं। क्या हमने मानव की भौतिक विपदाओं पर विजय पाई सिर्फ पूर्णरूप से नष्ट हो जाने के लिए? क्या हम अपने सामने के आतंकों को पराभूत करके स्थायी शांति स्थापित कर सकते हैं अथवा क्या हमें भविष्य में जमीन में छिपकर चूहों आदि का-सा जीवन बिताना पड़ेगा? क्या हमारी वैज्ञानिक प्रणाली ने जीवन की कला की अवहेलना कर दी है? क्या हमारे स्वायत्त प्रशासन में आत्मा का शासन नहीं है?

हमारा भौतिक ज्ञान विकसित होकर आत्मज्ञान में और हमारी महानता शालीनता में क्यों नहीं परिणत हो जाती है?

21 जून, 1981 को दुनिया भर के 53 नोबल पारितोषिक प्राप्त विद्वानों को जिनेवा, रोम, ब्रुसेल्स, बर्न, पेरिस, ओटावा तथा न्यूयार्क, इन सात महानगरों से अपील निकालनी पड़ी कि सभी जगह केन्द्रीय राजसत्ता और अर्थसत्ता ने मिलकर सामान्य आदमी के खिलाफ षड्यंत्र रचा है। यह केन्द्रीय व्यवस्था करोड़ों आदमियों को कुचल रही है। इस व्यवस्था को बदलने में आनाकानी करने से सारी दुनिया के नष्ट हो जाने की पूरी सम्भावना है। दुनिया के लोग हवा का रुख समझ कर बदलें। यह बहुत ही अच्छा होगा अन्यथा गांधीप्रणीत शान्तिमय आन्दोलन का सहारा लेकर दुनिया के दुर्बलों को यह आत्मघात रोकना ही होगा।

सन् 1986 में विज्ञान और धर्म के समन्वय पर दुनिया की कांग्रेस भारत में हुई। उसमें आये हुए विश्वविख्यात मैसाच्युसेटस इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलोजी के कम्प्यूटर विज्ञान तंत्र के प्रोफेसर जोसेफ बेझवान ने कहा कि हमें विज्ञान का नशा चढ़ गया है, जिसे उतारने की जरूरत है। विज्ञान का उपयोग गत पचास-सौ वर्षों में सुरक्षा के नाम पर लोगों को मारने के लिए हुआ है और यह बन्द होना चाहिए।

प्रो. बेझवान ने पुनः अन्यत्र प्रश्न उठाया है—नोबल प्रॉइज के लिए इतिहास में अपना नाम लिखवाने के लिए वैज्ञानिक चाहे जो प्रयोग करेगा, किन्तु इसके लिए मनुष्य जाति को कितनी कीमत चुकानी पड़ेगी। कहीं बंदर के पंजे Monkey paw की तरह भयानक स्थिति को तो नहीं भुगतना पड़ेगा। कहीं हमें सम्पूर्ण नरसंहार से मूल्य तो नहीं चुकाना पड़ेगा? इसके लिए सांस्कृतिक पुरुषों (जिसको सारी मानव जाति से प्रेम है) का नियंत्रण विज्ञान के प्रयोग पर होना चाहिए।

बर्ट्रेण्ड रसेल ने Impact of Science on Society पृष्ठ 120-21 में कहा है—'हम एक ऐसे जीवन प्रवाह के बीच में हैं जिसका साधन है मानवीय दक्षता और साध्य है मानवीय मूर्खता।' अगर मूर्खता लक्ष्य हो तो उसकी सिद्धि के लिए कुशलतावृद्धि की दिशा में उठाया गया प्रत्येक कदम बुराई की ओर ले जाता है। मानव-जाति अब तक जीवित रह सकी है तो अपने अज्ञान व अक्षमता के कारण ही। परन्तु अगर ज्ञान व क्षमता मूढता के साथ युक्त हो जाए तो उसके बचे रहने की कोई सम्भावना नहीं है। ज्ञान शक्ति है पर यह शक्ति जितनी अच्छाई के लिए है उतनी ही बुराई के लिए भी है। निष्कर्ष यह है कि जब तक मनुष्य में ज्ञान के साथ-साथ विवेक का भी विकास नहीं होता, तब तक ज्ञान की वृद्धि दु:ख की वृद्धि ही साबित होगी।

इस प्रकार विज्ञान नैतिक कारण से भी धर्म की ओर झुक रहा है, उसके मार्गदर्शन की अपेक्षा करने लगा है। यह मार्गदर्शन निश्चय ही ईसाई धर्म नहीं कर सकता जिसके स्वयं के ही मानवीय या बौद्धिक दर्शन के अभाव में आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा मानवीय मूल्यों की ठोस चट्टान से टकराकर विश्वासों एवं अंध-विश्वासों के तिनके बिखर गये। परिणाम यह है कि आज ईसाई देशों में भी ईसाइयत जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से अलग होकर रह गयी है। अतः ईसाई दर्शन मार्गदर्शन नहीं कर सकता (जो स्वयं ही मानवमूल्य विरोधी, विज्ञान विरोधी है)। पश्चिम में जो ज्ञान-विज्ञान की उन्नति सम्भव हुई है वह ईसाइयत से पिण्ड छुड़ाकर ही। इस दृष्टि से हिन्दू धर्म ही आशा का केन्द्र है और उसी में यह क्षमता है। हिन्दू धर्म किसी सम्प्रदाय विशेष का न होकर मानव मात्र का धर्म है, दर्शन है और वैज्ञानिक प्रक्रिया का समर्थक है।

मैक्समूलर कहता है—यदि मुझसे पूछा जाए कि किस गगन के नीचे मानव मन ने ऊंची से ऊंची प्रतिभाओं का विकास किया है, जीवन की बड़ी से बड़ी समस्याओं पर विचार कर ऐसे ऊंचे हल ढूंढ़े हैं कि जो प्लेटो तथा काण्ट का अध्ययन करने वाले विद्वानों के ध्यान को भी आकर्षित करने का अधिकार रखते हैं तो वह महान् देश, भारत है। अगर मैं अपने से पूछूं कि हम—यूरोप के वासी—जो अब तक केवल ग्रीक, रोमन तथा यहूदी विचारों में पलते रहे, किस साहित्य से वह प्रेरणा ले सकते हैं जो हमारे भीतरी जीवन का परिशोधन करे, उसे उन्नति के पथ पर अग्रसर करे, व्यापक बनाये, विश्वजनीन बनाये, सही अर्थों में मानवीय बनाये जिससे हमारे इस पार्थिव जीवन को ही नहीं हमारी सनातन आत्मा को प्रेरणा मिले, तो वह भारत देश है।

Sir W. Hunter के शब्दों में—भारतीय दर्शन ने उन समस्त दार्शनिक गुत्थियों के सम्भावित समाधान खोज लिए थे जो गुत्थियां प्रारम्भ में यूनानियों, रोमनों, मध्यकालीन यूरोपीय चिन्तकों को परेशान करती रही हैं और आज तक वैज्ञानिकों को उलझन में डाले हुए है।

Mrs. Manning के शब्दों में—'हिन्दुओं के मन एवं चिंतन का उतना अधिकतम विस्तार हो चुका था जितना मानव के लिए कभी सम्भव हो सकता है।'

Prof. Schegal (जर्मनी) कहता है—'यूरोप का सर्वोच्च दर्शन बौद्धिक अध्यात्मवाद जो यूनानी दार्शनिकों से प्रारम्भ हुआ, प्राच्य अध्यात्मवाद के अनन्त प्रकाश एवं प्रखर तेज के सम्मुख ऐसा प्रतीत होता है जैसे मध्याह्न के प्रखर सूर्य के दिव्य प्रकाश के भरपूर तेज के सम्मुख एक मन्द-सी चिनगारी हो जो धीरे-धीरे टिमटिमा रही हो और किसी समय भी बुझ सकती है।

इस प्रकार भारतीय दर्शन पश्चिमी दर्शन की तुलना में श्रेष्ठ एवं सार्वभौम है और इसका आधुनिक विज्ञान के साथ पूरा मेल है। जैसा कि फ्रिटजाफ केपरा की **(The Tao of physics)** आदि पुस्तकों से स्पष्ट है। अतः यही विज्ञान को नियंत्रित रख सकता है। यथोचित मार्गदर्शन दे सकता है।

इसलिए आज चोटी के वैज्ञानिक वेदान्त का हवाला देना नहीं भूलते। जैसे यदि आप एडिंगटन, जेम्स जीन्स, मैक्सप्लांक तथा श्रोडिंजर आदि की पुस्तकों को पढ़ें तो उनमें वेदान्त और पतंजलि के योगसूत्र का हवाला पाएंगे।

संस्कृत भाषा एवं हिन्दू अध्यात्मपरम्परा से परिचित होना—संस्कृत भाषा से परिचित होने से पूर्व वे सेमिटिक धर्म विशेषकर ईसाई तत्त्वज्ञान से परिचित थे जिसका विज्ञान के साथ सीधा विरोध था। पर जैसे-जैसे संस्कृत भाषा से परिचित हुए, हिन्दू तत्त्वज्ञान से परिचित हुए तब उन्हें यह जानकर भी आश्चर्य हुआ कि जिन तथ्यों को पाश्चात्य विज्ञान ने खोजा है वे एकदम नये नहीं वरन् हिन्दू परम्परा बहुत पहले से ही इनसे परिचित है। उदाहरणार्थ—श्री जकेलियट नामक प्रसिद्ध विद्वान् ने अपने The Bible in India नामक ग्रंथ में अनेक मतों की सृष्टि व्युत्पत्तिविषयक कल्पनाओं का उल्लेखकर वैदिक विचार के बारे में निम्न उद्‌गार प्रकट करते हैं—'बड़ी आश्चर्यजनक बात है कि ईश्वरीय धर्मग्रंथों में एकमात्र वेद ही ऐसे हैं जिसके विचार वर्तमान विज्ञान के साथ पूर्ण साम्य रखते हैं क्योंकि वेद में ही विज्ञान के अनुसार विश्व की क्रमिक रचना का विचार प्रतिपादित है।'

अमेरीकन महिला ह्वीलर विल्लाक्स कहती हैं—'हम लोगों ने भारत के प्राचीन धर्म के विषय में पढ़ा है और सुना है। भारत महत्त्वपूर्ण वेदों की भूमि है जिसके अन्दर न केवल जीवन के पूर्णत्व के लिए धार्मिक तत्त्वों का निरूपण है वरन् उन तथ्यों का भी निर्देश है जिनको सारे विज्ञानशास्त्र ने सत्य प्रमाणित किया है। वैदिक ऋषियों को विद्युत् शक्ति, रेडियम, इलेक्ट्रॉन तथा वायुयान आदि सब बातों का ज्ञान था, ऐसा प्रतीत होता है।'

न्यूटन ने एक बार कहा था, 'यदि मैं दूसरों से आगे देख सका हूं तो इसका कारण यह था कि मैं महामानवों के कंधों पर खड़ा था।' यही दत्तोपंत ठेंगड़ीजी कहते हैं—पश्चिम इन महामानवों को जन्म इस कारण दे सका था कि पुनर्जागरण काल में यूरोप का समूचा बुद्धिजीवी वर्ग हिन्दू महामानवों के कंधों पर खड़ा था।

इस प्रकार हिन्दू तत्त्वज्ञान का विज्ञान के साथ अद्‌भुत मेल है इसलिये वे भारतीय दर्शन की ओर झुकने लगे।

शोपेनहावर ने भविष्यवाणी की थी कि 'मैं विश्वास करता हूं कि जो पन्द्रहवीं शती में ग्रीक साहित्य के पुनर्जागरण ने किया था, उससे कम गहरा प्रभेदकारी

प्रभाव संस्कृत साहित्य का न रहा होगा।' शोपेनहावर की यह उक्ति सत्य होती हुई दिखाई देती है। प्रथम अणु विस्फोट के समय ओपेनहाइमर को विज्ञान या बाइबिल का वचन न याद आकर गीता का श्लोक याद आता है। विख्यात भौतिकशास्त्री एवं वैज्ञानिक श्रोडिंजर एवं एडिंगटन अपनी अनेक पुस्तकों में सांख्य, वेदान्त और योगदर्शन का हवाला देते हैं। वर्तमान समय में फ्रिटजाफ केपरा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक The Tao of physics में आधुनिक विज्ञान के निष्कर्षों के साथ वेदान्त का साम्य दर्शाते हुए योगदर्शन, वेदान्त की वकालत की है।

इस प्रकार इन तीनों कारण से विज्ञान भारतीय दर्शन की ओर झुक रहा है।

विज्ञान और प्रविधि के विकास के साथ हो सकता है कि बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक सारा संसार अमरीका के प्रभाव क्षेत्र में आ जाए। किन्तु इक्कीसवीं शती में, जब विज्ञान का स्थान अध्यात्म लेगा और तकनीक का स्थान धर्म लेगा तब भारत ही सारी मानव-जाति का आध्यात्मिक गुरु होगा।

—ब्रिटिश इतिहासकार डॉ. अरनाल्ड टोयनबी

× × ×

'मैं अपने हृदय की गहराइयों में अनुभव करता हूं....कि रक्तपात से दुनिया थक चुकी है। दुनिया बाहर निकलने का रास्ता खोज रही है और मुझे विश्वास है कि इस भूखी दुनिया को बाहर निकलने का रास्ता शायद हमारा पुरातन देश ही बता सके।'

—महात्मा गांधी

आधुनिक युग में उपनिषदों का प्रसार यूरोप में

आधुनिक समय में उपनिषदों पर दृष्टि सर्वप्रथम मुगल सम्राट शाहजहाँ के उदारचेता ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह की जाती है। दाराशिकोह के उपनिषदों से परिचित होने के सन्दर्भ में भी एक सुन्दर कथा है। एक दिन वह आखेट करने घोर अरण्य में प्रवेश करता है और रास्ता भटककर, थककर एक झोंपड़ी में पहुंचता है। जहां एक साधु एक पुस्तक को पढ़ने में तल्लीन है।...

इस प्रकार दाराशिकोह उपनिषदों से परिचित होता है और उससे प्रभावित होकर दाराशिकोह ने (सन् 1640) काशी आदि से पण्डितों को बुलाकर छह माह तक उपनिषदों की व्याख्या को उनसे सुना। फिर स्वयं संस्कृत सीखी और सन् 1657 में बावन उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद पंडितों की देखरेख में प्रारम्भ किया । सन् 1657 से 1674 तक सत्रह वर्ष वह अनुवाद का कार्य करता रहा।

औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा भी दाराशिकोह से प्रभावित हुई। जब औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा ने अपने ताऊ को इस नयी मस्ती और प्रसन्नता में देखा तो एक दिन बोली—अब्बा! यह आपके भीतर जो मस्ती और शांति आ गई है यह कैसे आ गई है। दाराशिकोह ने कहा, मेरे द्वारा उपनिषदों का अध्ययन करने से। तब जेबुन्निसा कई दिन तक अपने विद्वान् ताऊ से इस अमृत भरे ज्ञान को प्राप्त करती रही।

कालान्तर में एक सौ वर्ष के बाद सन् 1757 में बंगाल के नवाब शुजाउद्दोला के दरबार में मिस्टर जटियल नाम का एक फ्रांसीसी राजदूत था। उसने किसी से फारसी के उन उपनिषदों को सुना और मस्त हो गया। वह फारसी के उपनिषद् फ्रांस ले गया। वहां एक सज्जन बर्नियर को दिए। बर्नियर पर भी जादू हुआ। उसने ये उपनिषद् इनका कुछ भाग पेरिस के बड़े पादरी डुपारन को सुनाया। वह प्रभावित हुआ। उसने निश्चय किया कि इन उपनिषदों को संस्कृत भाषा में पढ़ूँगा। पेरिस से भारत पहुंचा। 14 वर्ष तक संस्कृत पढ़ता रहा। फिर संस्कृत में उपनिषदों को पढ़ा। सन् 1801 में इसका लैटिन में अनुवाद किया जो जटिल एवं दुरूह था। उसकी एक प्रति जर्मनी के प्रख्यात विद्वान् एवं दार्शनिक शोपनहावर, जो रुग्ण होकर मृत्युशय्या पर पड़ा था, को भेंट की। उसको पढ़कर वह उछल पड़ा। इतना

प्रमुदित एवं प्रसन्न हुआ कि वह स्वस्थ हो गया। वह कहता है—यद्यपि हमारे लिए संस्कृत को समझना कठिन है और हमारे पास वे साधन नहीं जिनसे ठीक रूप से हम संस्कृत के रहस्यों को समझ सकें। तो भी जहां तक हमने खोज की है....संसार में किसी भी पुस्तक का स्वाध्याय इतना लाभ देने वाला और आत्मा को ऊपर उठाने वाला नहीं जितना कि उपनिषदों का है। मेरी आत्मा को उपनिषदों से ही शान्ति मिली और मरने के पश्चात् भी इन्हीं से शान्ति मिलेगी।

मैक्समूलर कहता है—यदि शोपनहावर की बात को समर्थन करने की, प्रमाणित करने की आवश्यकता है तो इसका समर्थन मैं करता हूं। यद्यपि शोपनहावर किसी भी बात की जल्दी से प्रशंसा करने वाला नहीं था। 'India—what can it teach us' में वे लिखते हैं—जीवनभर मैंने उपनिषदों का अध्ययन किया है। स्वाध्याय किया है। उसके बल पर मैं कह सकता हूं कि शोपनहावर ने जो कहा है उस कथन की पुष्टि करता हूं।

पाल ड्यूसन कहता है—उपनिषद् मनुष्य की मेधा बुद्धि का अनमोल फल हैं। जीवन और मृत्यु के समय दुःख और कष्ट के समय नहीं अपितु हर समय प्रतिक्षण उनसे ऐसी शांति मिलती है जैसी और कहीं भी नहीं मिलती। भारत के लोगों के पास आत्मज्ञान और आत्म शांति का ऐसा कोष है जो संसार में और किसी के पास भी नहीं। मैं जब भारत की यात्रा के लिए गया तो बहुत सी लाभप्रद बातें मुझे मिली। परन्तु सबसे लाभदायक और सबसे महत्त्वपूर्ण है पवित्र भाषा में ऋषियों का ज्ञान देने वाले उपनिषद्।'

उसने यह भी कहा, 'अपने पड़ोसी को अपनी भांति प्रेम करो, यह ठीक है। किन्तु मैं ऐसा क्यों करूं? क्योंकि मैं अपने सुख-दुःख को स्वयं में अनुभव करता हूं, पड़ोसी में नहीं। इसका उत्तर बाइबिल में नहीं है। वेद में केवल तीन शब्दों में है—'तत्त्वमसि'। फ्रेंच दार्शनिक विक्टर कजिन्स ने कहा कि प्राच्य दार्शनिक ज्ञान की तुलना में यूरोपीय बुद्धि घुटने टेक देती है। जर्मनी के प्रख्यात विद्वान् फ्रेडरिक श्लेगल ने कहा है कि प्राच्य आदर्शवाद के सामने उच्चतम यूरोपीय दर्शन फीका पड़ जाता है।

सर डब्ल्यू हंटर ने लिखा—जिन समस्याओं को रोमन और ग्रीक नहीं सुलझा सके। जिन प्रश्नों ने मध्यकाल के विद्वानों तथा आधुनिक वैज्ञानिकों को उद्विग्न किया। उन सबका उत्तम और उचित उत्तर भारतीय दर्शनों में उपलब्ध है।

ह्यूम (Hume) ने Dogmas of Budhism में लिखा—मैंने अरस्तू, सुकरात, अफलातून और कितने ही अन्य विद्वानों के ग्रंथ बहुत ध्यान से पढ़े हैं। परन्तु जैसी विद्या इन उपनिषदों में मैंने देखी और जितनी शांति इनसे पाई, वैसी तो और किसी भी स्थान पर मुझे नहीं मिली।

आश्चर्य तो यह है कि उपनिषदों के प्रशंसकों में यूरोप के मर्डक प्रभृति पादरियों और प्रशासकों का बाहुल्य है। एनी बेसेन्ट ने उपनिषदों को मानव मन की सर्वोच्च उपज कहा।

इस प्रकार से कितने यूरोपीय विद्वानों के विचार बताए जाएं। उपनिषदों के ज्ञान ने पूरे यूरोप में एक वैचारिक तहलका मचा दिया और इसे ही भविष्य के विश्वधर्म के रूप में मान्यता मिलने लगी।

हम वेदों तक पहुँचे वह सभी पूर्व शताब्दियों की तुलना में इस शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ सद्‌भाग्य कहा जा सकता है।

उपनिषदों में पाये जाने वाले अद्‌भुत सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए शोपेनहावर ने फिर कहा है—ये सिद्धान्त ऐसा ही है जो एक प्रकार से अपौरुषेय ही है। ये जिनके मस्तिक की उपज है, उन्हें निरे मनुष्य कहना कठिन है।

यह अनुपम ग्रंथ आत्मा की गहराइयों को हिलकोर डालता है। इसके प्रत्येक वाक्य से मौलिक, गम्भीर और बड़े ही ज्योतिष्मान् विचार ऊपर उठते हैं। हमारे चारों ओर भारतीयता का वातावरण आप से आप खड़ा हो जाता है तथा ऐसा प्रतीत होता है मानो यह विचार हमारे आत्मिक बन्धु के विचार हों। हमारे मनों पर यहूदी संस्कार की जो रूढ़ियाँ और अंधविश्वास छाये हुए हैं वे उनके स्पर्श मात्र से एकबारगी धुल जाते हैं। सारे संसार में इसके जोड़ का कोई ग्रंथ नहीं हो सकता।

—जर्मन दार्शनिक शोपनहावर

मानव जीवन की सार्थकता

मानव जीवन की भारतीय शास्त्रों ने बड़ी प्रशंसा की है। मानव जीवन पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) का द्वार है। एतेरेयोपनिषद् में कथा आती है कि जब भगवान ने सृष्टि की रचना की, देवों का निर्माण किया। उन्हें भूख, प्यास से युक्त किया तब उन्हें वास के लिये स्थान चाहिये था। देवताओं के वास के लिये विधाता ने गाय बनायी जिसे उन्होंने नापसन्द किया, फिर घोड़ा बनाया उसे भी नापसन्द किया, इसी क्रम में अनेक जीव बनायें उसे भी नापसन्द किया। तब विधाता ने पुरुष शरीर की रचना की जिसे सब देवताओं ने पसन्द किया और उसमें प्रविष्ट हो गये। इसी की अनुगूंज—'न हि मानुषात श्रेष्ठतरं ही किञ्चित्' सुनाई पड़ी। वेद में भी मानव शरीर को देवों की अयोध्यापुरी कहा गया है—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरायोध्या
तस्यां हिरणमयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।
(अथर्ववेद 10-2-31)

यह शरीर आठ चक्रों व नौ द्वारों से युक्त देवताओं की अयोध्या है। इसमें अत्यन्त तेजस्वी स्वर्णमय कोष है, जो महान ज्योति से, परमात्मा से आवृत्त है और ज्योति की किरणें उसमें प्रकट हो रही है।

बाइबिल में भी मनुष्य को ईश्वर की श्रेष्ठतम कृति माना गया है जिसे उसने अपने स्वरूप के अनुरूप बनाया (भले ही वे ईश्वर और मनुष्य की सही व्याख्या करने में असमर्थ रहे) है। कभी उसमें कुछ कमी या अपूर्णता देखी गई तो कहना पड़ा कि मनुष्य फरिश्तों से कुछ ही घटकर है। फ्रांसिस क्वाएंले मनुष्य को स्वर्ग का कुशलतम निर्माण कहते हैं। प्रोतोगोरस मनुष्य को प्रत्येक वस्तु के निर्णय का मापदण्ड मानते हैं। इमर्सन ने मनुष्य को भग्न देवता कहा है। इस प्रकार भारतीय परम्परा के साथ इतर परम्परा मानव शरीर की महिमा गाती है।

भारतीय परम्परा के अनुसार मानव शरीर से ही हम आगे की ओर, विकास की ओर, पूर्णता की ओर दिव्यता की ओर, सत-चित्-आनन्द की ओर, ईश्वर की ओर, आत्मा की ओर यात्रा कर सकते हैं। अगर उसे प्रारम्भ से ही सही

चिन्तन, सही विचार, सही दृष्टि, सही परिवेश, सही व्यवस्था मिल जाय तो वह सर्वोच्च विकास कर सकता है मनुष्यत्व से देवत्व, देवत्व से ब्रह्मत्व की यात्रा कर सकता है। अगर विचार की दिशा सही नहीं तो पतन की भी सीमा नहीं। वह नर पशु से नरपिशाच बनेगा। विचारों की दिशा के अनुसार स्वर्ग, नरक और मुक्त होने की यात्रा कर सकते हैं। स्पष्ट है विचारों की दिशा सम्यक् हो तो वह पूर्णता की ओर यात्रा कर सकता है, दिव्यता की ओर यात्रा कर सकता है। इसके लिये मानव को सही ढंग से विश्लेषित कर लिया जाय, सही ढंग से परिभाषित कर लिया जाय सही ढंग से व्याख्यायित कर लिया जाय, उसके अनुकूल मानव जीवन का निर्माण कर लिया जाय तो अलग से परिवार जीवन, समाज जीवन, राष्ट्र जीवन, विश्व जीवन की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि सभी के मूल में व्यक्ति है, व्यक्ति से ही परिवार बनता है। परिवारों की समष्टि से समाज, समाजों की समष्टि से राष्ट्र बनता है, राष्ट्रों की समष्टि से विश्व बनता है। अतः व्यक्ति का सही ढंग से निर्माण हो जाय तो इन सबकी अलग से चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि सभी के मूल में व्यक्ति है। इस संदर्भ में एक बहुत सुन्दर बोध कथा है—

एक बुद्धिमान पिता ने अपने नटखट पुत्र को कुछ समय व्यस्त रखने के लिये एक विश्व का मानचित्र उसके सामने टुकड़े-टुकड़े करके जोड़कर लाने के लिये दे दिया ताकि पिता अपना कार्य निर्विघ्न कर सके। पिता को तब बड़ा आश्चर्य हुआ जब देखा कि पुत्र कुछ समय पश्चात् विश्व का मानचित्र जोड़कर प्रस्तुत हो गया। पिता के आश्चर्य को तोड़ते हुए पुत्र ने ही रहस्य खोला कि मानचित्र के पीछे मानव की आकृति बनी हुई थी, इसलिये वह सहजता से जोड़ सकने में समर्थ हुआ। इस प्रकार मानव को ठीक ढंग से जोड़ लिया जाय तो विश्व की अलग से चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

रमण महर्षि—रमण महर्षि के पास बहुत से देशी-विदेशी साधक आये। हम्फ्रीस, पालब्रटन आदि विदेशी साधक विश्व की बड़ी-बड़ी समस्याओं को लेकर कि विश्व की भलाई कैसे होगी? मैं विश्व के निर्माण में कुछ योगदान कर सकूंगा या नहीं। रमण महर्षि इन सब प्रश्नों को निरर्थक बताकर टाल देते थे और कहते थे—मूल प्रश्न मैं कौन हूं इसका अन्वेषण करो और उसके अनुरूप अपने जीवन का निर्माण करो तब सभी समस्या अपने आप सुलझ जायेगी। इसलिये आचार्य श्रीराम शर्मा कहते हैं—तुम बदलोगे युग बदलेगा, तुम सुधरोगे युग सुधरेगा। एक दीप से अनन्त दीप प्रज्वलित होते हैं। एक राम के निर्माण हो जाने से अनन्त राम निर्मित हो जाते हैं और एक रावण के निर्माण से सारे संसार को त्रास पहुंचाने के लिये अनन्त रावणों का निर्माण हो जाता है।

महर्षि दयानन्द जब ज्ञान अन्वेषण के लिये एक गुरु से दूसरे गुरु के पास भटक रहे थे तब अन्तिम गुरु विरजानन्दजी के पास पहुंचे। उस समय गुरुजी की कुटिया के द्वार बन्द थे और वे विश्राम कर रहे थे। दयानन्दजी ने द्वारा खटखटाया तो अन्दर से आवाज आयी—तुम कौन हो? दयानन्दजी ने कहा—यही तो जानने मैं आपके पास आया हूं। जब मैं यह जान लूंगा तब आपके पास आने का प्रयोजन ही क्या रहेगा?

स्वामी शिवानन्दजी का सरल सहज उपदेश है—

Eat a little, Drink a little, Sleep a little,
Think a little, Serve a little, meditate a little,
enquire who am I and be free, know the knower, see
the seer, percieve the perciver and be free.

वृहदारण्यक उपनिषद् में प्रसंग आता है देवर्षि नारदजी का। देवर्षि नारद ने उस समय की प्रचलित सभी विद्याओं का सांगोपांग अध्ययन किया पर उन्हें कृत-कृत्यता की, धन्य-धन्यता की अनुभूति नहीं हुई, शान्ति नहीं मिली। तब वे बाल ब्रह्मज्ञानी सनतकुमारजी के पास गये और उन्हें बताया कि धरती से आकाश तक की सब विद्याओं का अध्ययन किया पर पूर्णता की, शांति की अनुभूति नहीं हुई। इस पर सनतकुमार जी पूछते हैं—क्या आपने अपने-आपको जान लिया? उसको जाने बिना सारा ज्ञान अज्ञान है। बोझ है। भार है।

इसलिये भारतीय दर्शन आत्मजिज्ञासा से प्रारम्भ होता है—'कोऽहम्' मानव जीवन का प्रथम और आधार-भूत प्रश्न है कोऽहम्! अर्थात् मैं कौन हूँ। जबकि पश्चिमी दर्शन विश्व जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है—सृष्टि क्या है? उपनिषद् के ऋषि इसी आत्म तत्त्व की विस्तृत और पूर्ण व्याख्या करके उत्तर देते हैं—'सोऽहम्' मैं वही हूं जो मूल तत्त्व है, परब्रह्म परमेश्वर है। आत्मा तथा परमात्मा की अन्तर्भूत एकता का दर्शन ही उपनिषद् विद्या है। इसे ही आत्म विद्या, ब्रह्मविद्या कहते हैं। यही सच्ची विद्या, पराविद्या है। इसके अतिरिक्त सब विद्याओं को अपराविद्या कहा जाता है। पराविद्या के अनुसार हमारे अन्तर में ही नारायण समाये हुए हैं। पूर्णता, दिव्यता, अनन्तता, आनन्द, अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान हमारे अन्तर में ही समाया हुआ है। पर वह सोयी हुई अवस्था में है, उसे साधना, शिक्षा, संस्कार, तप के द्वारा जगाना पड़ता है अन्यथा अन्तर के नारायण सोये ही रह जाते हैं।

अतः हमारी यात्रा लंगोटी से चोटी तक, मूलाधार से सहस्रार तक की, मात्र दो-ढाई फुट की यात्रा है। उसी के लिये सब साधन-भजन है, नाक बंद कर प्राणायाम करना, आंख मींच कर ध्यान करना, कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग, ज्ञानयोग आदि सभी इसी की सिद्धि के लिये हैं। और शरीर के रहते ही इस स्थिति को उपलब्ध कर

लेवें इसी दृष्टि से हमारी व्यक्तिगत जीवन चर्या, समाज जीवन की रचना की गई। इसी के लिये हमारे सामने चार आदर्श रखे गये—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसी की सिद्धि के लिये व्यक्तिगत जीवन को चार आश्रमों में और समाज जीवन को चार वर्णों में बांधा गया ताकि जीवन रहते हुए ही पूर्णतालाभ कर सकें। हम कर्मों को समझ कर कर्म चक्र के पार जा सकें, प्रकृति और उसके तीनों गुणों को समझकर, उसके पार जाकर आत्मा में स्थित हो सकें, प्रभु लाभ कर सकें, आत्म-ब्रह्म ऐक्य में स्थित हो सकें। इसी में मानव जीवन की सार्थकता है, पूर्णता है।

यवन को दिया दया का दान,
चीन को मिली धर्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ण भूमि को रत्न,
शील की सिंहल को भी सृष्टि॥
किसी का हमने छीना नहीं,
प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्मभूमि थी यहीं,
कहीं से हम आये थे नहीं॥

जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त नाटक का गीत

× × ×

ब्रिटिश सांसद जे. समीर के. ने लिखा—'हम जब भारत पहुँचे तो हमने देखा कि वहाँ उनके पास एक प्राचीन सभ्यता है, जो पिछले हजारों सालों से वहाँ रह रही अतिशय बुद्धिमान जातियों के चरित्र में घुल-मिल गयी है। उनकी यह सभ्यता सर्वस्पर्शी और सर्वव्यापी है। उसने भारत को न केवल समाज के राजनीतिक जीवन के गठन की पद्धतियाँ दी है, बल्कि सामाजिक और कौटुम्बिक जीवन की अत्यन्त विविध और समृद्ध संस्थाएँ भी दी है। ये सारी संस्थाएँ कुल मिलाकर हितकारी हैं, यह बात हिन्दू जाति के चरित्र पर उनके प्रभाव को देखकर जानी जा सकती है। इस देश की जनता के चरित्र में उसकी सभ्यता का यह हितकारी प्रभाव जितना स्पष्ट है उतना किसी अन्य देश की जनता में शायद ही मिले। वे व्यापार में चतुर हैं, विचार और विवेचन की गहराइयों में जाने वाली तीक्ष्ण बुद्धि रखते हैं, मितव्ययी, धर्मपरायण, संयमशील, उदार, माता-पिता की आज्ञा मानने वाले, वृद्धों को आदर देने वाले, कानून का पालन करने वाले, व्यवहार में मीठे, असहायों के प्रति दयालु और आपत्ति आ पड़ने पर उसे धीरज से सहन करने वाले हैं।'